श्रीमदन्नम्भट्टविरचितः

तर्कसंग्रह

न्यायबोधिनी-हिन्दीव्याख्या-संवलितः

लेखकः

डॉ० नवदेश्वर त्रिपाठी

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी • दिल्ली

श्रीमदन्नम्भट्टविरचितः

तर्कसंग्रहः

न्यायबोधिनी-हिन्दीव्याख्या-संवलितः

लेखक :

डॉ० नर्वदेश्वर तिवारी

व्याकरणविभागाध्यक्षः

श्रीसाधुबेलासंस्कृतमहाविद्यालयः

वाराणसी

प्रकाशक :

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी, दिल्ली

भारतीय विद्या प्रकाशन

(१) पो० बाक्स नं० ११०८ कचौड़ीगली, वाराणसी, २२१००१

हेड आ० (२) १. यू. बी. जवाहरनगर, बँगलोरोड, दिल्ली, ११०००७

मूल्य—२०=००

प्रथम संस्करण—१९८९-९०

मुद्रक—

राज प्रेस

पाटन दरवाजा

(गायघाट), वाराणसी

दो शब्द

पण्डितप्रवर डा० नर्वदेश्वर तिवारी द्वारा लिखित तर्कसंग्रह के न्याय-बोधिनी की हिन्दी व्याख्या का अवलोकन किया। यह ग्रन्थ न्यायवैशेषिक दर्शन के पदार्थतत्त्वों का ज्ञान कराने में अत्यन्त उपयोगी है। लेखक ने अत्यन्त सरल और स्पष्ट व्याख्या सम्पादित की है। इसमें न्यायवैशेषिक के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ सरलतम विधि से प्रतिपादित किये गए हैं जिससे न्यायवैशेषिक दर्शन के प्रारम्भिक अध्ययन करने वाले व्यक्तियों के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगी। इस व्याख्या के साथ-साथ कारण, सन्निकर्ष, प्रमा, तर्क आदि विषयों में उदीयमान शङ्काओं का समाधान भी युक्तिपुरस्सर किया है। इससे यह लक्षित होता है कि आपने अपने अध्यापन के समय में उद्भावित शङ्काओं को समाहित करके ग्रन्थ को छात्रों के लिए बोधगम्य कर दिया है।

वशिष्ठत्रिपाठी

अध्यक्ष

न्याय वैशेषिक विभाग

सं० सं० वि० वि० वाराणसी

३०-९-८९

श्री गणेशाय नमः

भूमिका

तर्कसङ्ग्रह वैशेषिक प्रधान प्रकरण ग्रन्थ है। इस विषय में यथाक्रम आगे इस भूमिका में ही विशेष प्रकाश डाला जाएगा। वैशेषिक एवं न्याय भारतीय-दर्शन की महत्वपूर्ण शाखाएँ हैं। अतः हम सङ्क्षेप में प्रथमतः भारतीय दर्शन का दिग्दर्शन कराते हुए गन्तव्य की तरफ चलेंगे।

भारतीय दर्शन का सङ्क्षिप्त परिचय—भारतीयदर्शन के सङ्क्षिप्त परिचय के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम "दर्शन" पदार्थ की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक एवं न्यायसङ्गत ही है। "दर्शन" शब्द 'दृश्' धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर बनता है। इस प्रकार 'दृश्' धात्वर्थ की तरह चाक्षुष-प्रत्यक्ष के लिए 'दर्शन' शब्द का भी प्रयोग प्राप्त होता है तथापि ज्ञान सामान्य के लिए भी व्यवहार में आता है। शास्त्रीय [भारतीय] परिप्रेक्ष्य में दर्शन शब्द का अर्थ आत्मविवेचना से रहा है। मनुष्य स्वभाव से ही मननशील होता है। "मत्त्वा कर्माणि सीव्यति" यह कथन भी इसी तथ्य का परिचायक है। मनन-शीलता का आरम्भ भी अपने आप से ही आरम्भ होता है। कोऽहं ? कस्त्वं ? कुत आयातः ? हो या कोऽहं कस्मादागतः ? हो जीव की इस स्वाभाविकी प्रवृत्ति का अनुमोदन आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादि श्रुति द्वारा उपनिषदों ने भी किया है। अतः पूर्वोक्तरीति से आत्मा-नुशासन (आत्मानुसन्धान) ही दर्शन है, वही दर्शन-शास्त्र का मुख्य अभिधेय है। आत्मदर्शन करना ही सभी शास्त्रों या दर्शनों का लक्ष्य है, अतः आत्मसा-क्षात्कार ही दर्शनों का बीज है। इसी के लिए सभी भारतीय-दर्शनों की प्रवृत्ति एवं पर्यवसान की उद्भावना है। पाश्चात्य देश में आचार एवं विचार में कोई सामञ्जस्य नहीं है। दर्शनों की सार्थकता नाटक के पात्रों की तरह केवल कण्ठस्थ करके सभाओं या समितियों में भाषण मात्र नहीं है। परिचयात्मक

या ऐतिहासिक मात्र नहीं है। आनुभूतिक, प्रायोगिक या व्यावहारिक नहीं है। फिलासफी शब्द का इतिहास भी यही भाव अभिव्यक्त करता है।

भारतवर्ष में ठीक इसके विपरीत, विचार के अनुसार आचार का भी नियमन सदा से अभिलषित रहा है और रहेगा भी।

'दृश्' धात्वर्थ की तरह 'विद्' धात्वर्थ भी है। इसी से वेद शब्द की सिद्धि होती है। अतः तुल्यन्याय से वेदार्थ की भी दर्शनार्थ की तरह ही व्यापकता एवं सार्थकता है। इसी लिए हमारे यहाँ किसी भी ज्ञान विज्ञान, आचार-विचार या दर्शन तथा सिद्धान्तों का मूलस्रोत वेद ही माना जाता है। "वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। तस्यार्थं वादरूपाणि निश्चित्य स्वविल्पजाः। एकत्विनां द्वैतिनाञ्च प्रवादा बहुधामताः॥ (वा० प० ब्र० ८) अतः दर्शन [आत्मसाक्षात्कार] का भी मूलस्रोत वेद ही है। उसका भी निर्गमन या प्रसरण मूलतः वेद से ही हुआ है। ऋग्वेद में परमेष्ठी ब्रह्मा विवेचना के द्वारा ही जगत् के मूलतत्त्वों को जान पाए। "आनीदवात्तम्" इत्यादि मन्त्रों से यही प्रमाणित होता है। "सङ्गच्छध्वं संवदध्वम्" "सं वो मनांसि जानताम्" इत्यादि मन्त्रों के द्वारा आङ्गिरस ऋषि के द्वारा तत्त्वान्वेषण की प्रेरणा ही तो दी गई है। कुल मिलाकर ऋषियों की चिन्तनप्रवृत्ति एवं तर्कप्रवृत्ति इन दोनों ने मिलकर दर्शन को अङ्कुरित किया। वेद काल में अङ्कुरित दर्शन उपनिषत् काल में पल्लवित हुआ। 'तत्त्वमसि' इस मन्त्र से वही ध्वनित होता है। इसके अनन्तर सूत्रकाल में दर्शन की शाखाओं का का प्रस्फुटन हुआ। इस प्रकार भारतीय-दर्शन अनेक शाखा प्रशाखाओं वाला हो गया। उसका मुख्य रूप से वैदिक एवं अवैदिक ये दो भेद होते हैं। अवैदिक-दर्शन का नास्तिकदर्शन के नाम से व्यवहार होता है। अवैदिक या नास्तिकदर्शन के चार्वाक्, बौद्ध एवं जैन ये तीन भेद हैं; तथा वैदिक-दर्शन के वैशेषिक, न्याय, साङ्ख्य, योग, मीमांसा (पूर्वमीमांसा) एवं वेदान्त (उत्तर मींमांसा) ये छः भेद होते हैं।

चार्वाक दर्शन—इस दर्शन का मूल भी "न प्रेत्य सञ्ज्ञास्ति" इत्यादि वेदवाक्य है। "मरने के बाद कुछ भी नहीं रह जाता है यही इस दर्शन का

आदर्श है । इस दर्शन को मानने वालों की वेद में श्रद्धा न होने के कारण, वैदिकसिद्धन्त एवं मान्यताएँ भी इन के लिए स्वतः व्यावृत हो जाती है जैसे परलोक, स्वर्ग-नरक या पुनर्जन्म इत्यादि । इस दर्शन के मत में शरीर को ही आत्मतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है । लोकमें बाहुल्येन इसका प्रचार होने से या सर्वसाधारण के अनुकूल होने से तथा लोक में प्रायः शरीरतादात्म्याध्यास होने से इस का लोकायत यह भी नाम प्रसिद्ध है । लोक में अधिकांश रूप में उपलब्ध शरीरात्मवाद ही इसकी आस्था का सर्वस्व है । वितण्डा ही इसके अभिव्यक्ति का साधन है । इसीलिए जयन्तभट्ट ने

नहि लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदिश्यते ।
वैतण्डिकथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः ॥

ऐसा कहा है । विवेचना रहित मायिक इन्द्रियानुभूत (प्रतीयमान मिथ्याभूत) जगत् एवं शरीर का ही वास्तविक एवं आत्मरूप से अनुभव करना इस दर्शन की प्रधान विशेषता है । इस दर्शन में दृश्यमान संसार एवं शरीर ही सब कुछ है, इसके अलावा कुछ भी नहीं है, अतः जो भी अपने की सुख कर प्रतीत हो उसे अनुष्ठित करना एवं कष्टदायक से (कष्ट से) दूर रहना ही जीवन का लक्ष्य होने से सांसारिक दृष्टि से सबके लिए मनोरम होने से (चारु वाक् से युक्त) यह दर्शन "चार्वाक" नाम से अभिहित हुआ । इस के आदि प्रवर्तक बृहस्पति हैं ऐसा ही इतिहासकारों का अभिमत है । यद्यपि इस दर्शन का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है: तथापि वेदनासूत्र भाष्य एवं श्रीधरी-नीलकण्ठीप्रभृतिगीता की टीकाओं में चार्वाक सूत्रों की चर्चा होने से उसकी सत्ता प्रतीत होती है। जैसे

"अथ लोकायतम्" । "पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि ।" "तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसञ्ज्ञा" "तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम् ।" चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः काम एवैकः पुरुषार्थः । मरणमेवापवर्गः" । ये सभी सूत्र उपर्युक्त ग्रन्थों में बृहस्पतिप्रणीत स्वीकृत हैं । इस प्रकार ये सूत्र बृहस्पति प्रणीत दर्शन की प्राचीनता को बताते हैं । बृहस्पति अर्थशास्त्र के भी प्रणेता थे । इस की चर्चा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी है । भास ने भी बृहस्पति को अर्थशास्त्र का प्रणेता स्वीकार किया है ।

चार्वाक दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त—केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इन्द्रिय एवं पदार्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। शरीर ही जीव है। मैं श्याम हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं कृश हूँ इत्यादि लोक व्यवहार भी शरीर को जीव सिद्ध करते हैं। सृष्टिका कोई कर्ता धर्ता नहीं है। वह स्वतः ही समय पर उत्पन्न एवं विनष्ट होती है। उसमें ईश्वर की कोई अपेक्षा नहीं रहती है। अतः इस दर्शन के मत में कोई ईश्वर नाम की वस्तु स्वीकार्य नहीं है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?
त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी ॥

इत्यादि लोकहृदयाकर्षक तर्कों के आधार पर चार्वाक दर्शन के लोक में प्रचार हो जाने पर कहीं समाज में मात्स्यन्दाय न फैल जाय इसीलिए वृहस्पति ने अर्थशास्त्र का निर्माण किया ऐसा चार्वाक दर्शन के समर्थकों का कहना है। चार्वाक दर्शन के ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध हैं, तथापि आस्तिक दर्शनों के द्वारा किए गए खण्डन से उनके अस्तित्व का पता चलता है। ३।३।५३ पा० सूत्र के भाष्य में "वर्णिका भागुरी लोकायतस्य" ऐसा वर्णित है। वर्णिका का अर्थ व्याख्यात्री है एवं भागुरी टीका विशेष का नाम है ऐसा उसभाष्य की कैयट ने व्याख्या की है। इस प्रकार भाष्यकार के समय में इस दर्शन का प्रचुर प्रचार प्रमाणित होता है।

बौद्ध दर्शन—बौद्धदर्शन ग्रन्थों में जैनमत के अन्तिम तीर्थङ्कर नाटपुत्त के नाम का उल्लेख एवं सिद्धांतों का वर्णन होने से तथा बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का जैन दर्शन ग्रन्थों में कहीं उल्लेख न होने से, बौद्ध दर्शन का आविर्भाव जैनदर्शन के बाद हुआ है यह सिद्ध होता है। बौद्ध दर्शन का धार्मिक एवं

दार्शनिक दो भाग उपलब्ध होता है। धार्मिक भाग में आध्यात्मिकतत्वों का वर्णन एवं प्रचार का निरूपण है। दार्शनिक भाग में तर्कों की सहायता से बौद्ध सिद्धान्तों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन है। इसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने ५२८ ई० पूर्व ज्ञान प्राप्त कर के इस दर्शन का उपदेश आरम्भ किया। रूप, विज्ञान, वेदना, सञ्ज्ञा और संस्कार ये स्कन्ध पञ्चक ही आत्मा हैं। ऐसा बौद्धों का नैरात्म्यवाद मिलिन्द प्रश्न में देखा जा सकता है। बौद्धों के मत में जीव और जगत् अनित्य एवं प्रतिक्षण परिणामी हैं। जैसे दीपशिखा प्रतिक्षण परिणत होने पर भी एक ही प्रतीत होती है; वैसे ही जीव एवं जगत् के विषय में भी जानना चाहिए। इसीलिए यह दर्शन क्षणिकवाद के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक ये चार बौद्ध दर्शन के प्रधान भाग हैं। वैभाषिक बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं, सौत्रान्तिक बाह्यार्थ को अनुमेय मानते हैं, योगाचारी विज्ञानवादी हैं एवं माध्यमिक शून्यवादी हैं। बौद्ध दर्शन में शील, समाज और प्रज्ञा ये तीन रत्न हैं। इस दर्शन के सभी सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रन्थ विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं।

जैन दर्शन—पहले जैन दर्शन 'निगण्ठ' शब्द से व्यवहृत होता रहा। यह 'निगण्ठ' शब्द "ग्रन्थान्निर्गतो निर्ग्रन्थ" इस संस्कृत शब्द का अपभ्रंश रूप 'पाली' का है। इस दर्शन का अर्हत दर्शन भी नाम है। महावीर स्वामी ने राग आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर इस मत का प्रचार किया इस लिए इस दर्शन या मत का नाम जैन पड़ा।

इस दर्शन के प्रचारकों को तीर्थङ्कर कहा जाता था। तीथङ्करों में आदि तीर्थङ्कर ऋषभ देव माने जाते हैं। महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर हुए हैं। इन दोनों के मध्य के पार्श्वनाथको छोड़कर किसी का विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता है। वर्धमान महावीर इतिहास प्रसिद्ध पुरुष हैं ? पार्श्वनाथ काशि-राज अग्रसेन के पुत्र थे। इनके द्वारा श्वेताम्बर एवं महावीर के द्वारा दिगम्बर सम्प्रदाय चला। जैनसाहित्य अत्यन्त विपुल है। इस दर्शन में आचार ग्रन्थ की अपेक्षा प्रमाण ग्रन्थों की अधिकता है। जैन दर्शन में जीव की चैतन्यता

एवं अनन्तज्ञानवत्ता स्वीकृत है। प्राक्तन कर्म के आवरण से पिढ़ित जीव सम्यक् चरित्र की स्वीकृति से अपने शुद्ध स्वरूप कैवल्य एवं सर्वज्ञत्व को प्राप्त करता है। जैन दर्शन का आरम्भ काल प्रथम शतक है। इसी समय में उमास्वामिमुकुन्दाचार्य समन्तभद्र आदि आचार्यों ने इस दर्शन की आधार शिला को स्थिर किया। तत्त्वार्थसूत्र की रचना भी इसी काल में हुई। उसके बाद इस दर्शन के अनेक ग्रन्थ रचे गए। जैसे देवनन्दिमहाभाग का 'सवार्थसिद्धि' दिगम्बर समन्तभद्र एवं सिद्धसेन दिवाकर का गन्धहस्तीभाष, भट्टालङ्क का राजवार्तिक। नियमसार, पञ्चास्तिकायसार, समयसार एवं प्रवचनसार ये चार ग्रन्थ जैन दर्शन के सर्वस्व हैं स्यादस्ति (शायद है) स्यान्नास्ति (शायद नहीं है) इत्यादि अनिश्चयात्मक वाक्यों के कारण इस दर्शन का 'स्यादवाद' नाम पड़ा। भूतसामान्य का वाचक पुद्गल शब्द है। इस मत में जीव एवं पुद्गल का सहकारी कारण स्वरूप धर्म है। उसके विरुद्ध अधर्म है। सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र जैन दर्शन में तीन रत्न हैं। यही मोक्षमार्ग है। आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर, मोक्ष, जीव, अजीव ये सात पदार्थ हैं।

साङ्ख्य दर्शन—इस दर्शन के आद्य आचार्य उपनिषत् कालिक ऋषि कपिल हैं। परन्तु उनका प्रणीत सांख्य दर्शन आज उपलब्ध नही हैं ऐसा आधुनिक इतिहास कारों का मत है परन्तु भागवत में इसकी चर्चा है। ईश्वर कृष्ण पर्यन्त सांख्य शास्त्रीय परम्परा लुप्तप्राय थी। ईश्वर कृष्ण ने कारिका लिख कर उसे जीवित किया। यह ग्रन्थ विक्रम की पहली शती में लिखा गया इसकी अनेक व्याख्याएँ हुई। माठर वृत्ति; गौडपादभाष्य, अज्ञातकर्तृक 'युक्तिदीषिका' वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी एवं शङ्कर की जयमङ्गला। कुमारिलभट्ट किसी वनवासी आचार्य की चर्चा करते हैं। सोलहवीं में विज्ञानभिक्षु ने सांख्य प्रवचनभाष्य लिखकर इस दर्शन की प्रतिष्ठा की। कठ, छान्दोग्य, श्वेताश्वरोपनिषदो में इस दर्शन के सिद्धान्त मिलते हैं। प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्त्वों से सृष्टि होती है। प्रकृति जड़ है पुरुष चेतन है प्रकृति में क्रिया होती है। यहाँ सत्कार्य वाद समर्थित है। कपिल का सांख्य सेश्वरसांख्य है (ईश्वर वादी है) एवं ईश्वर कृष्ण द्वारा प्रचारित अद्यतन साङ्ख्य निरीश्वर

वादी है। यहाँ मूलप्रकृतिरविकृत्तिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नच विकृतिः पुरुषः ये २५ तत्त्व है ईश्वरको लेकर २६ हो जाएँगे। पुरुष के स्वरूपावस्थान से प्रकृति भी स्वरूपस्थित हो जाती है अतः मोक्ष अर्थात् सृष्टि का अभाव हो जाता है।

योगदर्शन—इस दर्शन की प्राचीनता में किसी को सन्देह नहीं है। वेदमतावलम्बियों के समान बौद्ध एवं जैनमतों में भी योग का निरूपण मिलता है। छः वैदिक दर्शनों में गिना जाने वाला योग दर्शन पातञ्जल योग सूत्र है। योग सूत्रों पर व्यास भाष्य है जो इस दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। व्यासभाष्य पर वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी एवं विज्ञानभिक्षु की योग वार्तिकटीका है। इसके अतिरिक्त योगसूत्रों पर भोजवृत्ति, मणिप्रभा आदि कतिपय स्वतन्त्र व्याख्याएँ भी है। ये सभी ग्रन्थ उपलब्ध है। योग का मुख्य विषय चित्तवृत्तिनिरोध या समाधि के स्वरूप एवं साधनों का प्रतिपादन करना है। यह दर्शन सांख्य के ही सिद्धान्तों को (तत्त्वों को) स्वीकार करता है। इसमें ईश्वर की सत्ता अधिक है, अतः इसे सेश्वरसाङ्ख्य भी कहते हैं। क्लेशकर्मविपाकाशय से अपरामृष्ट विशेष ईश्वर है ईश्वर प्रणिधान अथवा समाधि से पञ्चक्लेशों एवं आशा के समूल नष्ट होने से पुरुष का कैवल्यरूप से अवस्थान (स्थिति) ही मोक्ष है। याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार इसके प्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं पतञ्जलि केवल सूत्र निर्माता है।

मीमांसा दर्शन—इस दर्शन के विषय की चर्चा वेद की संहिता उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थ में मिलती है। वेद में प्रयुक्त मीमांसा शब्द का विचार अर्थ है। अतः यह समीक्षापद्धति के नाम से भी प्रसिद्ध है न्याय शब्द का भी प्रयोग इसके लिए हुआ है जैसे जैमिनीय न्यायमाला, न्याय प्रकाश आदि।

इसका मुख्य विषय कर्मकाण्ड सम्बन्धी ब्राह्मण वाक्यों की सङ्गति लगाना है, ७ शताब्दी से यह विशुद्धदार्शनिक विवेचन की ओर प्रवृत्त हुआ। इस का श्रेय कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकर को है। इस मत में कर्म ही फल का दाता है। ईश्वर नहीं; अतः ये निरीश्वर वादी भी कहे जाते हैं। शब्द की नित्यता

बौद्धकृत क्षेप का खण्डन एवं ईश्वर की अस्वीकृति इस दर्शन की विशेषता है। जैमिनि ने ७०० ई० पू० मीमांसा सूत्रों को लिखा। व्याकरण महाभाष्य में कासकृत्स्नरचित मीमांसा का उल्लेख है। आचार्य उपवर्ष एवं भवदास कृत वृत्ति ग्रन्थों के साथ कासकृत्स्न कृत् मीमांसा भी लुप्त प्राय हो गई। तृतीय शती में उत्पन्न शाबर स्वामी ने बारह अध्यायों में मीमांसा सूत्रों की व्याख्या लिख कर इस दर्शन को परिपुष्ट किया। शाबर भाष्य के कुमारिल, प्रभाकर एवं मुरारि तीन व्याख्याकर हुए हैं। इन तीनों ने तीन मत का प्रवर्तन किया। कुमारिल का भाट्टमत, प्रभाकर का गुरुमत एवं मुरारि का मिश्रमत के नाम से प्रसिद्ध है। इस दर्शन के मत में कर्म से अदृष्ट उत्पन्न होता है, तथा अदृष्ट सङ्कल्पित सिद्धि प्रदान करता है। कुमारिल एवं प्रभाकर ७ वीं विक्रमशती एवं मुरारि बारहवीं शती के हैं।

वेदान्त दर्शन—वेद का अन्त (अन्तिम भाग) वेदान्त है। इस प्रकार वेदान्त उपनिषदों का वाचक है। अतः सर्वप्रथम वेदान्त की उद्भावना यहीं से होती है। परस्पर विरुद्ध मतों के कारण निर्णायक सिद्धान्त के लिए व्यास को ब्रह्मसूत्रों की रचना करनी पड़ी। आज वेदान्त के रूप में व्यास के ब्रह्मसूत्र का ही मुख्य रूप से ग्रहण होता हैं। 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' के द्वारा ब्रह्मसूत्र पाणिनि सूत्र से पूर्वकालिक सिद्ध होता है। ब्रह्मसूत्र पर शंकराचार्य का शारीरक भाष्य ही मुख्य आधार है। इन्होंने इन सूत्रों की अद्वैतवादी व्याख्या की है। इस भाष्य पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। वाचस्पति मिश्र (९ वीं शती) की भामती टीका, चित्सुखाचार्य (१३ वीं शती) की चित्सुखी विद्यारण्यस्वामी (१४वीं शती) की पञ्चदशी, विवरण प्रमेयसंग्रह तथा जीवन्मुक्तिविवेक सदानन्द (१६वीं शती) का, वेदान्तसार, मधुसूदन की अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थ इस दर्शन के पोषक है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' यही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है एवं ब्रह्माद्वैत ही मुक्ति है। गीता, उपनिषद् एवं ब्रह्म सूत्र को आधार बनाकर अनेक आचार्यों ने द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत इत्यादि अनेक मतों की व्याख्या एवं प्रवर्तन किया। शङ्कराचार्य के परम गुरु गौडपादाचार्य ने माण्डूक्य कारिका

नाम के अद्वैत वेदान्त का ग्रन्थ लिखा जिस पर भाष्य ७०० ई० में शङ्कर ने लिखा। द्वैत वेदान्तों में ईश्वर सर्वसमर्थ है एवं उसकी भक्ति ही सर्वथा मुक्ति की साधिका है।

न्याय दर्शन—यह दर्शन भी अत्यन्त प्राचीन है। इसके प्रवर्तक सूत्रकार ५०० ई०पू० हुए। प्रमाण-प्रमेयादि १६ पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि होती है यही पहला सूत्र है। गौतमप्रणीत न्यायशास्त्र पदार्थ मीमांसा शास्त्र हैं। इनके सूत्रों पर वात्स्यायन ने भाष्य लिखा। वात्स्यायन दूसरी शती में हुए थे। इनके भाष्यनिर्णीत सिद्धान्तों का दिङ्नाग बौद्धनैयायिक ने खण्डन किया है। उसके बाद छठी शती में उत्पन्न उद्योतकर ने न्यायवार्तिकों का निर्माण कर दिङ्नाग के आक्षेपों का खण्डन किया है। पुनः बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति ने उद्योतकर के मत का खण्डन किया। इसके पश्चात् वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्य नामक ग्रन्थ में उद्योतकर के मतों को मण्डित कर दिया। उदयन ने भी वाचस्पति के ग्रन्थ का संस्कार 'न्यायवार्तिकतात्पर्य परिशुद्धि' नामक अपने ग्रन्थ में किया। इस दर्शन का परमाणुकारणतावाद दार्शनिकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करता है। सुखदुःखात्मक मन की वृत्तियों के नाश हो जाने पर मन साम्यावस्था को प्राप्त हो जाता है। यही मुक्ति है। ईश्वर अनुमानगम्य है। पर एवं अपर के भेद से मुक्ति दो प्रकार की है। विदेह मुक्ति परनिःश्रेयस कही जाती है और जीवन्मुक्ति अपरनिःश्रेयस।

वैशेषिक दर्शन—वैशेषिक दर्शन सभी दर्शनों की अपेक्षा प्राचीन है। इसके प्रणेता कणाद कश्यपगोत्र में उत्पन्न होने से काश्यप भी कहलाते हैं। इनका ग्रन्थ "वैशेषिक सूत्र" के नाम से प्रसिद्ध है। कणाद ही का नाम उलूक भी था। इस प्रकार इनका नाम कणाद, कणभक्ष, कणभुक्, उलूक एवं काश्यप है। इन्हीं नामों से इनका दर्शन भी व्यवहृत होता है। 'विशेष' नामक पदार्थ की स्वीकृति से इस दर्शन का वैशेषिक नाम पड़ा। इसमें द्रव्यादि छः पदार्थ स्वीकृत हैं। तीन प्रकार के हेत्वाभास स्वीकृत हैं। १० अध्यायों में एवं ३७० सूत्रों में यह दर्शन निबद्ध है। प्रत्येक अध्याय में दो

आह्निक हैं। पहले अध्याय में सभी पदार्थों का सामान्य कथन है। द्वितीय में द्रव्य, तृतीय में आत्मा एवं अन्तःकरण का, चतुर्थ में शरीर के भेद का निरूपण है, पञ्चम में कर्म-निरूपण है, षष्ठ में श्रौत धर्म का कथन है, सातवें अध्याय में गुण एवं समवाय का वर्णन है। आठवें में ज्ञान के साधनों का एवं उसकी उत्पत्ति का वर्णन है। नवें में प्रागाद्यभाव का निरूपण है। दशम में आत्मा के गुणों का निर्वचन है। यह दर्शन सभी शास्त्रों का उपकारक माना जाता है—

"काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्" यह लोकप्रसिद्धि भी यही सिद्ध करती है। इस दर्शन का सबसे प्राचीन ग्रन्थ रावण प्रणीत सूत्र हैं। उसके बाद भरद्वाजवृत्ति, प्रशस्तपादभाष्य, शङ्करमिश्र का उपस्कार, जयनारायण भट्टाचार्य का कणादसूत्रवृत्ति और चन्द्रकान्त भट्टाचार्य का वैशेषिक भाष्य है। इस शास्त्र में सूत्रव्याख्यान रूप एवं पदार्थ व्याख्यान रूप ये दो प्रकार के ग्रन्थ मुख्य रूप से उपलब्ध होते हैं। प्रशस्तपाद ने कणाद के वैशेषिक सूत्र पर भाष्य लिखकर एक नये युग का आरम्भ किया। इस पर अत्यन्त गम्भीर व्याख्यान हुए हैं। जैसे—व्योम शिवाचार्य की व्योमवती, श्रीधर की न्यायकन्दली, उदयनाचार्य की किरणावली, श्रीवत्स की लीलावती, जगदीश की भाष्यसूक्ति, शङ्कर की कणाद रहस्य इत्यादि टीकाएँ। "धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" इस कणादसूत्र के अनुसार द्रव्यादिपदार्थों के साधर्म्यवैधर्म्यविचारपूर्वक तत्त्वज्ञान से धर्म विशेष (अदृष्ट) के उदय होने से निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष का अधिगम अर्थात् प्राप्ति होती है। इस दर्शन के अनुसार भी जीवात्मा ज्ञानस्वरूप ही है ज्ञानाधिकरण नहीं है। ज्ञानस्वरूप होता हुआ भी ज्ञानाश्रयत्व का व्यवहार उसी प्रकार उसमें होना अयुक्त नहीं है, जैसे—सूर्य के प्रभा रूप होने पर भी प्रभाश्रयत्व का उसमें व्यवहार होता है। परमात्मा जिसको ईश्वर भी कहते हैं, जीवात्मा से भिन्न ही है। परमात्मा सर्वज्ञ, विभु, नित्य, शुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव है। जीवात्मा सुख-दुःख के अनुभव से युक्त एवं जन्म-मरणादि के जाल में फँसा होता है। अनादि वासना के द्वारा देह को

ही आत्मा मानता हुआ जीव विषयों के भोग में लगा रह जाता है। इसलिए शुभाशुभ कर्म में लिप्त होने से उसके फल सुख-दुःखादि का भोग करता है। तत्त्व के ज्ञान से मिथ्या वासना के निवृत्त हो जाने से राग के अभाव हो जाने से प्रवृत्ति के अभाव होने से कर्म के भी अभाव होने पर सुख-दुःख का भी अभाव हो जाता है। यही (सुख-दुःख का अभाव ही या उनका अनुभवाभाव ही) मोक्ष है (निःश्रेयस है) यही इस दर्शन का निचोड़ है।

न्याय एवं वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थ—तर्कसंग्रह वैशेषिक प्रकरण ग्रन्थ है, यह आरम्भ में ही सूचित किया जा चुका है। इसमें वैशेषिक विषयों की प्रधानता होने पर भी न्याय के विषयों का भी संग्रह है। अतः उस पर कुछ कहने से पहले सिंहावलोकनन्याय से न्याय एवं वैशेषिक प्रकरण ग्रन्थों के विषय में संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं। ११ शती में टीका परम्परा का परित्याग कर विद्वज्जन स्वतन्त्र-ग्रन्थ-लेखन में प्रवृत्त होने लगे। इस युग में शास्त्र के सर्वाङ्गीण विवेचन की अपेक्षा किसी विशिष्ट अङ्ग का विवेचन अधिक उपयोगी समझा जाने लगा। परिणामतः एक विशेष प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण अधिक होने लगा, जिन्हें प्रकरण ग्रन्थ कहा जाता है। प्रकरण एक विशेष प्रकार का ग्रन्थ होता है जिसमें किसी शास्त्र के सर्वाङ्ग की विवेचना न होकर कतिपय विषयों का ही विवेचन रहता है। अन्य ग्रन्थों के भी विषय उसमें समाहित रहते हैं, तथा जिस शास्त्र का प्रकरण ग्रन्थ रहता है उससे भिन्न प्रकार का भी विषय विवेचन रहता है। वह सुगठित सरल संक्षिप्त किन्तु व्यापक होता है तथा उस विषय के नवीनतम मन्तव्यों से युक्त भी रहता है।

"शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥"

यह प्रकरण ग्रन्थ का लक्षण है।

प्रकरण ग्रन्थों की परम्परा—प्रकरण ग्रन्थों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के न्याय बिन्दु को प्रकरण ग्रन्थ बतलाया है। धर्मकीर्ति का हेतु बिन्दु भी प्रकरण ग्रन्थ है। न्याय बिन्दु एक सुव्यवस्थित

प्रकरण ग्रन्थ है। इसी से प्रकरण ग्रन्थों की प्राचीनता प्रमाणित होती है। तब से निरन्तर लक्षित या अलक्षित रूप से प्रकरण ग्रन्थों की धारा अविरल चलती रही है। वाचस्पति का तत्त्व बिन्दु मीमांसा का प्रकरण ग्रन्थ है। उदयनाचार्य की लक्षणावली तथा न्यायकुसुमाञ्जलि भी प्रकरण ग्रन्थ है। इससे भी पूर्व भासर्वज्ञ का न्यायसार प्रकरण ग्रन्थ रचा गया। ऐतिहासिक दृष्टि से न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध परिलक्षित होता है। न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों के प्रकरण ग्रन्थों ने तो इसे सर्वथा ही सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार प्रकरण युग में न्याय एवं वैशेषिक एकदम एक से हो गए। इसीलिए कुछ विद्वान् इसे न्याय वैशेषिक का सम्मिलित युग कहते हैं। यह भी इस प्रसङ्ग में सर्वथा अविस्मरणीय है कि यह युग नव्य ग्रन्थों का भी युग रहा। सभी दर्शनों एवं शास्त्रों में नव्य ग्रन्थों की रचनाएँ विपुल मात्रा में हुई। प्रकरण ग्रन्थों की रचना में इस क्रान्ति का ही योग सर्वथा स्वीकरणीय है। इस युग में जो प्रकरण ग्रन्थ लिखे गए उनमें या तो न्याय प्रधान रहे या वैशेषिक प्रधान। इस वर्गीकरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि पहले में न्याय विषय प्रधान रूप से निरूपित हैं तथा द्वितीय में वैशेषिक विषय। ऐसे भी प्रकरण ग्रन्थों का निर्माण किया गया है जिनमें न्याय एवं वैशेषिक वर्ण्य विषयों के मिश्रित रूप में न दिखाकर पृथक्-पृथक् रूप में ही दिखाया गया है। इस प्रकार का ग्रन्थ शशधर (१२ वीं शती) का न्याय प्रदीप है। न्याय एवं वैशेषिक वर्ण्य विषयों में अभेद प्रतीत होने पर भी उनका पृथक् अस्तित्व नहीं मिटाया जा सकता है। अतः न्याय या वैशेषिक प्रधान का व्यवहार प्रकरण ग्रन्थों के विषय में उचित ही है।

न्याय तथा वैशेषिक की समानता एवं असमानता—न्याय तथा वैशेषिक की समानता एवं असमानता का तात्पर्य यह है कि वैशेषिक के ही सिद्धान्त न्याय में स्वीकृत हैं तथापि न्याय का अपना मुख्य विषय प्रमाणों का निरूपण है। कुछ लोग यहाँ तक कहते हैं कि वैशेषिक विषयों की प्रामाणिकता को ही सिद्ध करने के लिए न्यायदर्शन का उदय हुआ है। जो भी हो न्याय एवं वैशेषिक के सिद्धान्तों की अत्यधिक समानता को नकारा नहीं जा सकता।

दोनों वस्तुवादी हैं। जड़ जगत् एवं चेतन (आत्मा) को दोनों स्वीकार करते हैं। पृथिवी आदि के नित्यानित्यत्व की स्वीकृति में दोनों में समानता है तथा परमाणु की सत्ता एवं द्वयणुकादि के क्रम से सृष्टि को भी दोनों स्वीकारते हैं। धर्म धर्मी का भेद, असत् से सत् की उत्पत्ति, तीनों कारणों की स्वीकृति शरीर आदि से आत्मा का भेद, आत्मा का जीवात्मा एवं परमात्मा दो भेद, जीव दुःखादि का भोक्ता है ईश्वर उनका साक्षी है। नियन्त्रक है। इस प्रकार अदृष्ट ईश्वर, जीव, बन्ध एवं मोक्ष दोनों स्वीकारते हैं। दोनों ही तत्वज्ञान से मुक्ति को मानते हैं। फिर भी वैशेषिक का मुख्य प्रतिपाद्य भौतिक जगत् है तथा न्याय का आत्मा आदि प्रमेय एवं प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं। वैशेषिक द्रव्यादि ६ पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य विवेचन द्वारा तत्वज्ञान से मुक्ति को स्वीकारता है। न्याय सोलह के तत्व ज्ञान से (वस्तुतः दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है)। पर दोनों के विवेचन के क्रम में अत्यन्त भेद है। वैशेषिक में प्रत्यक्ष एवं अनुमान केवल दो प्रमाण हैं किन्तु न्याय में उपमान एवं शब्द को भी लेकर चार प्रमाण स्वीकृत हैं। वैशेषिक हेतु के (पक्षसत्व आदि) तीन रूप मानता है परन्तु न्याय पाँच मानता है अतः वैशेषिक के मत में तीन हेत्वाभास हैं तथा न्यायमत में पाँच हैं। पाकजोत्पत्ति के विषय में वैशेषिक पीलुपाकवादी है न्याय पिठरपाकवादी है। न्यायमत में समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है पर वैशेषिक उसका अनुमान करता है। वैशेषिक नित्य संयोग नहीं मानता पर न्याय मानता है। इस प्रकार दोनों में बहुत साम्य होने पर भी निरूपण प्रक्रिया एवं सिद्धान्तों के भेद से इनके अनुसार प्राधान्याप्राधान्य का विचार करके न्याय प्रधान या वैशेषिक प्रधान प्रकरण ग्रन्थों का भेद करना न्याय-सङ्गत ही है।

न्यायप्रधान प्रकरण ग्रन्थ—इस प्रकार के प्रकरण ग्रन्थों में प्रमाण-प्रमेयादि षोडश के अनुसार पदार्थों की विवेचना होती है। वैशेषिक के द्रव्यादि सात पदार्थों का अर्थ के अन्तर्गत निरूपण किया जाता है। इस प्रकार के विवेचन में आत्मा मन आदि का दो-दो बार वर्णन आ जाता है यह महान् दोष है एवं अर्थरूप प्रमेय का तात्पर्य न्याय सिद्धान्त से दूर हो जाता है।

जैसा कि तर्कभाष्य (१३ वीं शताब्दी) में है। इसके निवारण के लिए कुछ विद्वानों ने अपने प्रकरण ग्रन्थों में प्रमेय के मध्य में आत्मा आदि के साथ-साथ द्रव्य आदि की भी गणना की है जैसे वरदराज ने "तार्किक रक्षा" (१२ वीं शती) में। कुछ लोगों ने अपने प्रकरण ग्रन्थों में वैशेषिक के पदार्थों की चर्चा ही नहीं की है। जैसे भासर्वज्ञ (१० वीं शती) ने न्यायसार में। गङ्गेशोपाध्याय की 'तत्त्वचिन्तामणि' भी इसी में आती है। न्याय स्तर पर हुई १८ टीकाओं से उसके महत्व का पता चलता है। भासर्वज्ञ ने न्याय परम्परा से भिन्न मत भी स्वीकार किया है। जैसे मुक्ति में आनन्दानुभूति।

वैशेषिक प्रधान प्रकरण ग्रन्थ—उपर्युक्त वर्णनानुसार इनमें द्रव्यादि पदार्थों के क्रम से तत्त्वों का निरूपण है। यहाँ गुण के निरूपण के क्रम में बुद्धि के अन्तर्गत प्रमाणों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार का प्रथम प्रकरण ग्रन्थ कौन है यह कहना अत्यन्त कठिन है। फिर भी शिवादित्य (१०वीं शती) की सप्तपदार्थी को वैशेषिक के इस वर्ग का प्रथम प्रकरण ग्रन्थ कहा जा सकता है। यदि इन्हें उदयन (१० वीं शती) से परवर्ती माना जाय तो उदयन की लक्षणावली को प्रथम प्रकरण मानना होगा। इसके अनन्तर वल्लभाचार्य (१२ वीं शताब्दी) की न्याय लीलावती। विश्वनाथ पञ्चानन (१७ वीं शती) न्याय कारिकावली एवं उस पर उन्हीं की मुक्तावली भी प्रकरण ग्रन्थ हैं। न्याय कारिकावली एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकरण ग्रन्थ है। इस पर अनेक टीकाएँ एवं उपटीकाएँ हुई हैं। इसी से इसका महत्त्व प्रकट होता है। जगदीश तर्कालङ्कार (१७ वीं शती) का तर्कामृत तथा लौगाक्षि भास्कर (१७ वीं शती) की तर्ककौमुदी के अतिरिक्त भी अनेक प्रकरण ग्रन्थ हैं जिनका अनुसन्धान न्यायवैशेषिक की अभिवृत्ति में सहायक सिद्ध हो सकता है। १७ वीं शती में ही वैशेषिक प्रधान प्रकरण ग्रन्थ में तर्कसंग्रह का भी नाम आता है जो अन्नम्भट्ट द्वारा लिखा गया है।

तकसंङ्ग्रह—इस प्रकरणग्रन्थ की रचना का काल १७ वीं शती है। तर्कसङ्ग्रह ग्रन्थ लोकप्रियता में अद्वितीय है। यह प्रकरणग्रन्थ पठन पाठन में विशेष प्रचलित है। यह न्याय यावैशेषिक तत्वों की जानकारी के लिए प्रवेश

द्वार समझा जाता है। वस्तुतः इसकी रचना शैली इतनी सुगम एवं सुव्यवस्थित है कि अत्यन्त कम समय में आसानी से पदार्थों (वैशेषिक नैयायिक) की जानकारी इससे सर्वथा सम्भव हो जाती है। इतना स्पष्ट एवं सुगमता से इन पदार्थों का ज्ञान कराने वाला कोई ग्रन्थ नहीं है। इसके रचयिता अन्नम्भट्ट तैलङ्ग ब्राह्मण थे, इन के पिता का नाम अद्वैतविद्याचार्य तिरूमल था। काशी आकर विद्यासम्पादन में इन्होंने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। इनकी ख्याति इनके ग्रन्थ तर्कसङ्ग्रह एवं उस पर की गई इनकी दीपिका टीका से हुई। इनकी एवं इनके ग्रन्थ की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण इनके ग्रन्थ का पठन पाठन में तब से अबतक की विद्यमानता ही है। इस ग्रन्थ की रचना एवं लोकप्रियता से दक्षिण में यह मुहावरा ही (लोकोक्तिही) प्रसिद्ध हो गया कि "काशीगमनमात्रेण नान्नम्भट्टायते द्विजः" इसी से इनके पाण्डित्य एवं बुद्धिकौशल का पता चलता है। तर्कसङ्ग्रहग्रन्थ की महिमा इससे भी समझ लेनी चाहिए कि इस पर २५ तथा उसकी टीका दीपिकापर १० व्याख्या-ग्रन्थ प्रकाशित अप्रकाशित उपलब्ध हैं। इन टीकाओं में गोवर्द्धनमिश्र की न्यायबोधिनी, श्रीकृष्णधूर्जटी दीक्षितका सिद्धान्तचन्द्रोदय, चन्द्रजसिंहका पदकृत्य नीलकण्ठभट्ट की नीलकण्ठी तथा उनके आत्मज लक्ष्मीनृसिंह की भास्करोदया अत्यन्त प्रसिद्ध तथा विद्वानों से प्रसंशित हैं।

तर्कसङ्ग्रह शब्द का अर्थ—'तर्कसङ्ग्रह' इस नाम के श्रवणमात्र से "तर्काणां संग्रहः" यह अर्थ स्वभावतः किसी को भी सहज ज्ञान हो जाता है; पर तर्क क्या है ? एवं उनके सङ्ग्रह से क्या तात्पर्य है ? यह अवश्य जिज्ञासा होती है।

तर्क— न्याय विद्या था अनुमान के लिए तर्कशब्द का प्रयोग आरम्भ में मिलता है। यों तो भारतीय शास्त्रों एवं साहित्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द अपना एक विशिष्ट इतिहास सँजोए हुए हैं। तर्क शब्दार्थ भी तर्क शब्द की धुरी पर अपनी उसी वेवसी भरी यात्रा को तय करके हमारे यहाँ पहुँचा है। उसी के अनुसन्धान से हमें पूरा का पूरा इतिहास एवं रहस्य ज्ञात हो जाता है। [किसी भी शब्द एवं तदर्थ के विषय में या तद्विषयक इतिहास के विषय में

हमें इसे कभी भी नही भूलना चाहिए। जो लोग अपने इस सहज मार्गका त्याग कर देते हैं वे अपने मूल विषयसे सर्वथा भटक कर केवल कल्पना में दिग्भ्रमित स्वयं होकर दूसरे को भी दिग्भ्रमित होने का केवल मार्ग प्रशस्त करते हैं। इसलिए शब्द का मूलार्थ एवं विद्यमान अर्थों को ध्यान में रख कर उनके बीच की दूरी को तय करने के लिए हम जो भी करेंगे वह उचित मार्ग होगा। अस्तु,] अब प्रश्न उठता है कि तर्कशब्द का न्याय या अनुमान के लिए प्रयोग कब से आरम्भ हुआ जबकि तर्कशब्दका प्रयोग बहुत पहले से प्रारम्भ हुआ है। न्याय एवं अनुमान इन दोनो को अर्थों में भी महान् अन्तर है। तथापि हम व्यवहार जो हो चुका है, शिष्टों के द्वारा जो प्रयोग किए जा चुके हैं, अथवा जो सर्वथा व्यवहृत हैं उन्हें हम कैसे नकार देगें। इस प्रकार न्याय एवं अनुमान का भी कहीं भले ही समानार्थक प्रयोग हुआ हो, पर न्याय से जहाँ सम्पूर्ण पदार्थों (प्रमाण प्रमेयादिकों) की तरफ दृष्टि जाती है वहीं अनुमान से केवल एक प्रमाण की तरफ। इसी क्रम में हम तर्क शब्द या उसके प्रयोग पर जब हम ध्यान देते हैं, तब पाते हैं कि जैसे—"तर्केण मतिरपनेया" यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मवेदः नेतरः" इत्यादि रूप से उपनिषत् (कणे० १। २।९) से लेकर "तर्काप्रतिष्ठानात्" (१।१।११) इस ब्रह्म सूत्र से होते हुए मनुस्मृति एवं न्याय में भी तर्क शब्द की चर्चा आती है। गौतम के प्रथम सूत्र में १६ तत्त्वों में एक तर्क भी है। गौतम ने अपने न्याय सूत्र में "अविज्ञात-तत्त्वार्थे कारणोपपत्तिस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः" ऐसा तर्क का स्वरूप निर्णय किया है। न्याय भाष्यकार ने "प्रमाणानामनुग्राहकस्तर्कः" (१।१।१) कहा है। पूर्वोक्त न्यायसूत्र के आधार पर वह सोलह पदार्थों में एक पदार्थ है एवं निःश्रेयस् सिद्धि में उसका भी तत्त्वज्ञान गौतम को अपेक्षित है। तर्कभाषाकार एवं तर्कसंग्रहकार का भी वही मत है। क्योंकि—तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः। स च सिद्धव्याप्तिकयोर्धर्मयोर्व्याप्याङ्गीकारेण अनिष्टव्यापकप्रसञ्जनरूपः। यथा "यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत्"। स चायं तर्कः प्रमाणानामनु-ग्राहकः" ऐसा तर्कभाषाकार ने तर्कभाषा में लिखा है एवं आगे "तथाहि पर्वतोऽयं साग्निः, उतानग्निः" इति सन्देहानन्तरं यदि कश्चिन्मन्येनाग्निरय-मिति तदा तं प्रति 'यद्ययमनग्निरभविष्यत् तदानग्नित्वादधूमोऽप्यभविष्यत्'

इत्यधूमत्वप्रसञ्जनं क्रियते। स एष प्रसङ्गस्तर्क इत्युच्यते। अथ चानुमानस्य विषयशोधकः प्रवर्तमानस्य धूमवत्त्वलिङ्गकानुमानस्य विषयमग्निमनुज्जानाति। अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात्। अतोऽनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति। उसकी इस प्रकार से व्याख्या की है। यद्यपि तर्कसङ्ग्रहकार ने अयथार्थानुभव के अन्तर्गत उसकी गणन्त की है तथापि "व्यायारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः" ऐसा लक्षण किया है एवं "यदि वह्निर्न स्यात् धूमोऽपि न स्यात्" ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस तर्कसंग्रह की स्वयं की गई दीपिका में प्रमाणों का अनुग्राहक तर्क है ऐसा स्वीकार किया है। पदकृत्य आदि टीकाओं ने भी इसी का अनुकथन किया है। इस प्रकार अब तक के किए गए तर्क के विवेचन से तर्क का ऊहापोह या औचित्य विचार के लिए किए गए विचार विमर्श ही अर्थ सिद्ध होते हैं। फिर भी मध्यकाल में कहीं न कहीं से न्याय के लिए इसका प्रयोग या प्रसिद्धि अवश्य हो गई थी अन्यथा तर्कभाषा एवं तर्कसङ्ग्रह जैसा ग्रन्थका नाम रख कर न्याय के या वैशेषिक के पदार्थों की विवेचना ही सर्वथा असङ्गत हो जाती है। न्याय या न्यायवर्णित पदार्थों के लिए तर्क शब्द के प्रबलप्रयोग के कारण ही केशव मिश्र की तर्कभाषा या अनम्मट्ट के तर्कसङ्ग्रह से पूर्व ही न्याय के विषयों के (वैशेषिक का भी उपलक्षण यहाँ न्यायशब्द को समझलेना चाहिए) विवेचना के लिए तर्क शब्दसे विशिष्ट बौद्ध आचार्य मोक्षाकर (११ वीं शती) की तर्कभाषा एवं वरदराज (१२ वीं शती) की तार्किकरक्षा आदि लिखी गई, एवं तर्कभाषा (१७ वीं शती) एवं तर्कसङ्ग्रह (१७ वीं शती) के पश्चात् जगदीशतर्कालङ्कार (१७ वी शती) का तर्कामृत लिखा गया। लौगाक्षि (१७ वीं शती) ने तो यहाँ तक कह दिया है कि आन्विक्षिकी (मोक्षविद्या) को न्याय या तर्क आदि शब्दों से अभिहित किया जाता था सेयमान्विक्षिकी न्यायतर्कादिशब्दैरपि व्यवह्रियते (न्या० वा० १।१।१)। इस तरह यह भी स्मरण रखने योग्य हैं कि आन्विक्षिकी न्यायविद्या या न्यायशास्त्र तर्कशास्त्र आदि के अन्तर्गत अध्यात्मविद्या, वादविद्या, प्रमाणविद्या आदि सभी विषयों का समावेश है। 'अध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात्' यह भाष्यकार का वचन ही इस विषय में पर्याप्त होगा। इस प्रकार उह के अर्थ में आरम्भ होकर अन्त तक व्यवहृत होने वाला 'तर्क' शब्द न्याय या वैशेषिक प्रतिपाद्य पदार्थों के विषय

में भी प्रयुक्त हुआ है। यहाँ तर्कसंग्रह के अन्तर्गत आए हुए तर्क शब्द का भी द्रव्यादिपदार्थ ही अर्थ है। इसीलिए स्वयं तर्कसङ्ग्रहकार ने अपने ग्रन्थ तर्क-सङ्ग्रह के मङ्गलाचरण में आए हुए "क्रियते तर्कसंग्रहः" के तर्क शब्द का 'तर्क्यन्ते=प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः=द्रव्यादिसप्तपदार्थाः' यह अर्थ दीपिका में किया है। बाद के तर्कसङ्ग्रह के टीकाकार ने भी इस अर्थ की उपेक्षा नहीं की है और वह सर्वथा उपयुक्त भी है, अन्यथा पूर्वोक्तरीत्या इस ग्रन्थ के नाम में रखा गया 'तर्क' शब्द सर्वथा अनुपयुक्त हो जाएगा। तर्क शब्द के इन्हीं व्यापक एवं संकुचित अर्थों को ध्यान में रख कर हमने पूर्व में दर्शनों के विषय में सङ्क्षिप्त चर्चा की। कुल मिलाकर कोई भी दर्शन या ज्ञान न तो तर्क के विना सम्भव ही है, न ही उसके बाहर ही है।

सङ्ग्रह—तर्कसङ्ग्रह के 'तर्क' शब्द पर विचार के अनन्तर 'सङ्ग्रह' शब्द पर ध्यान देना है। यद्यपि इसके अर्थ में भ्रमहोने का कोई प्रश्न नहीं हैं तथापि यहाँ सङ्ग्रह का सम्यग् रूपेण ग्रहण अर्थ अपेक्षित नहीं कर सङ्क्षेपेण स्वरूपकथन अर्थ ही अभिप्रेत है। क्योंकि अन्नम्भट्ट ने अपनी दीपिकाटीका में यही स्पष्टी करण दिया है। पदकृत्यकार चन्द्रजसिंह तो और आगे बढ़ गए हैं। उनके अनुसार तो यहाँ का 'सङ्ग्रह' शब्द शुद्धपारिभाषिक है। (तर्क्यन्ते=प्रमितिविषयी क्रियन्ते इति तर्काः=द्रव्यादिपदार्थास्तेषां) सङ्ग्रहः=सङ्क्षेपेण उद्देश-लक्षण परीक्षा यस्मिन् स ग्रन्थः, ऐसा व्याख्यान किया है। इस प्रकार सङ्क्षेप में उद्देश-लक्षण-एवं परीक्षा जहाँ हो वह ग्रन्थ सङ्ग्रह है ऐसा उसका अर्थ हुआ। नाममात्र से वस्तु का सङ्कीर्तन कथन या वर्णन उद्देश है, जैसे "द्रव्यगुणकर्म० से लेकर अभावश्चतुर्विधः" अन्योभावश्चेति तक तर्कसङ्ग्रह का मूल ग्रन्थ। इसमें सातों पदार्थों का नाम्ना सङ्कीर्तनमात्र है विशेष विवेचन नहीं है। असाधारणधर्म को लक्षण कहते हैं जैसे "तत्र गन्धवती पृथिवी" लेकर आगे द्रव्यादि विशेष पदार्थों का विवेचन लक्षण पूर्वक किया है। उदाहरणार्थ तत्र गन्धवती पृथिवी में गन्धवत्व पृथिवी का असाधारण धर्म है अतः गन्धवत्त्व पृथिवी का लक्षण हुआ। लक्षितस्य लक्षणं सम्भवति न वेति विचारः परीक्षा। लक्षित का अर्थात् जिसके लिए लक्षण बनाया गया है उस लक्ष्य का

वह लक्षण ठीक ठीक घटित हो रहा है या नहीं यह विचार ही परीक्षा है। इस प्रकार उद्देश ग्रन्थ का फल पक्षज्ञान है, एवं लक्षण का फल होता हैं लक्ष्य से भिन्न का ज्ञान तथा परीक्षा का फल लक्षणमें आगत दोषों का परिहार है। वस्तुतः इन सभी बातों की अन्नम्भट्ट ने स्वीकृति अवश्य प्रसङ्गान्तर में दी है अतः पूर्वानीत पदकृत्यकार का दोष परिहृत हो जाता है। क्योंकि पृथिवी के लक्षण के तर्कसङ्ग्रह की व्याख्या दीपिका में स्वयं लिखते हैं—नाम्ना पदार्थ-सङ्कीर्तनमुद्देशः। एवं आगे पृथिवी के लक्षण करते है मूल में। तथा दीपिका में उसकी परिक्षा भी करते हैं। अतः प्रस्तुतप्रसङ्ग में सङ्ग्रह शब्द का "उद्देश लक्षण एवं परीक्षा ही सङ्क्षेप में जिस ग्रन्थमें "इस अर्थ में पारिभाषिक होने में अन्नम्भट्ट की सर्वथास्वीकृति ही समझनीचाहिए। इसविषयका समर्थन प्रकारान्तर से (विद्या चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा च न्या० सू० वा० भा० १।१।२) हो जाता है। इन विषयों का सूक्ष्मविवेचन भी विशदरूप में आगे टीका एवं टिप्पणीकारों ने की है। अतिविस्तारभय से हम विषय का सङ्क्षेप कर रहे हैं।

इस प्रकार अर्थ के अनुसार तर्कसङ्ग्रहग्रन्थमें द्रव्यादिपदार्थों का सङ्क्षिप्त उद्देश लक्षण एवं परीक्षा है अतः तर्कसङ्ग्रह यह नामग्रहण यथार्थ ही है भ्रामक नहीं हैं।

ग्रन्थ का उद्देश्य—'तर्क' शब्द का व्यवहार अनेक व्यापक एवं सङ्कुचित अर्थों में होता है एवं हुआ है यह इसके पहले वर्णन किया जा चुका है। भर्तृहरि आदि जैसे प्रामाणिक लोगों ने भी तर्क एवं अनुमान दोनों का पर्यायेण प्रयोग किया है तथापि यहाँ तर्क शब्दका अर्थ "न्यायशास्त्र" या तत्प्रतिपाद्य पदार्थों से है। यह चूँकि वैशेषिक प्रधान प्रकरण ग्रन्थ है। तथापि दोनों के प्रतिपाद्यपदार्थो में अधिकतर साम्य होने से तथा तर्कसङ्ग्रह में न्याय के भी विषय के प्रतिपादन से वैशेषिक एवं नैयायिक पदार्थों के कथन में कोई मतभेद यहाँ नहीं समझना चाहिए। इस प्रकार द्रव्यादि पदार्थों के वाचक तर्कशब्द के रहते द्रव्यादिपदार्थों का सङ्ग्रह अर्थात् उनका नाम्ना सङ्कीर्तन रूप उद्देश एवं उनका लक्षण करना तथा परीक्षा द्वारा ठीक ठीक उनका

वर्णन करना एवं उनका पाठकों को ज्ञान कराना यही तो ग्रन्थ का उद्देश्य हो सकता है दूसरा क्या होगा ? फिरभी इन पदार्थों के उद्देश लक्षण एवं परीक्षा के ज्ञान के साधनभूत अन्य ग्रन्थों के रहने पर भी इसकी रचना की आवश्यकता अन्नम्भट्ट को क्या पड़ी ? तर्क सङ्ग्रह एक प्रकरण ग्रन्थ है यह कहा जा चुका है। हमारे यहाँ शास्त्रों में प्राचीन एवं नव्य की परम्परा श्रुत एवं दृष्ट है और यह स्पष्ट भी है कि सभी शास्त्रों या दर्शनों के मूलग्रन्थ सूत्र हैं। जहाँ तक ग्रन्थों में सूत्रानुक्रम से विषयों का विवेचन किया गया है उन ग्रन्थों को या दर्शनों को प्राचीन कहा गया तथा सूत्रक्रम के उद्देशपूर्वक केवल साधुज्ञान के लिए किए विषय विवेचन युक्त दर्शन या ग्रन्थ नव्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। तर्क की विशेष आवश्यकता तत्रापि जटिलता की आवश्यकता नव्यग्रन्थों के काल में महसूस की गई। विशेषरूप से यह शैली नव्यशास्त्रों की परिचायिका बनी। परन्तु नव्यग्रन्थों या दर्शनों के मूल प्रकरण या प्रक्रियाग्रन्थ ही हैं। इसी शृङ्खला की एक कड़ी तर्कसङ्ग्रह ग्रन्थ है। विशेष परिचय तो प्रकारण ग्रन्थों के चर्चा के समय दिया जा चुका है। अतः नव्य शैली के पदार्थों के ज्ञान के विषय में अत्यन्त सरलता एवं स्पष्टता से सङ्क्षेपरूप से न्याय-वैशेषिक अभिमत पदार्थों या सिद्धान्तों का अधिगम कराना ही इसका उद्देश्य है। इसमें न तो प्राचीन सूत्र ग्रन्थों की विशदता का स्पर्श है नहीं बाद के नव्यग्रन्थों की अवच्छेदकताऽवच्छिन्ना प्रकारता निरूपिता आदि की जठिलता ही है। इस प्रकार सुगमता से पदार्थों के ज्ञान के लिए किया गया तर्कसङ्ग्रह ग्रन्थ सर्वथा अन्नम्भट्ट के सङ्कल्प के अनुरूप ही है। तथा न्याय के पदार्थों के प्राथमिक जिज्ञासुओं के लिए सर्वथा सदय बरदान स्वरूप है।

तर्कसङ्ग्रहका प्रतिपाद्य विषय—यद्यपि उपर्युक्त विवरणों से प्रतिपाद्य विषय के बारे में प्रकाश डालना कुछ शेष नहीं है तथा इतने सरलग्रन्थ के बारे में विवरणदेना उसे दुरूह जनाने के अलावा और कुछ भी नहीं हैं तथापि इसमें प्रतिपाद्यविषय का सूत्र रूप में हम स्मरण कर लेते हैं जो ग्रन्थ का ही सङ्क्षिप्त रूप है। सर्वप्रथम द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव का विभागपूर्वक नाम्ना निर्देश है। तदनन्तर पृथिव्यादि नवद्रव्यों के लक्षण (एवं भेदादि का

निरूपण है। तत्पश्चात् गुणों का लक्षण एवं भेदवर्णन क्रम में बुद्धि रूप गुण के प्रसङ्ग में बुद्धि का यथार्थ एवं अयथार्थ भेद करके यथार्थ में भी स्मृति एवं अनुभव दो भेद किया। अनुभव रूप यथार्थ ज्ञान का चार भेद प्रत्यक्ष, अनुमति, उपमिति एवं शब्द किया तत्पश्चात् उनके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द चार प्रमाणों के नामनिदेश पूर्वक करण एवं समवायि असमवायि निमित्त-कारणों के निरूपण के क्रम में पहले प्रत्यक्षज्ञान एवं प्रमाण का निरूपण तथा प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रियों एवं पदार्थों के षड्विधसन्निकर्ष के अनन्तर अनुमिति-ज्ञान एवं उसके करण (प्रमाण) अनुमान के निरूपण के अन्तर्गत समाहित व्याप्ति, हेत्वादि पञ्चावयव, एवं हेत्वाभासों के परिचय के अनन्तर उपमिति एवं उस के करण उपमान का निरूपण कर शाब्दप्रभा एवं उसके करण (प्रमाण) शब्द का लक्षणादिद्वारा विवेचन है। यहाँ यह एक बात विशेष ध्यान देने की है कि इन्हीं प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों के आधार पर अन्नम्भट्ट ने पूर्व चारपरिच्छेदों का विभाजन किया है। पञ्चम अवशिष्ट परिच्छेद में अवशिष्ट गुणों एवं कर्मा-दिकों के लक्षणविभागपूर्वक वर्णन करके "प्रमाण–प्रमेय–संशय–प्रयोजन–दृष्टान्त–सिद्धान्त–अवयव–तर्क–निर्णय–वाद–जल्प–वितण्डा–हेत्वाभास–छल–जाति–निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।" इस न्याय सूत्र वर्णित १६ षोडश पदार्थों का अन्तर्भाव ग्रन्थवर्णित सात पदार्थों में ही हो जाता है इसी को व्यक्त करने के लिए ग्रन्थान्त में अन्नम्भट्ट ने— "सर्वेषामपि पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात् सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्" ऐसा कहा है। किसका किस पदार्थ में अन्तर्भाव होता है इसका ज्ञान एवं उपरिवर्णित विषयों का विशेष ज्ञान मूल ग्रन्थ एवं उसके व्याख्यानभूत न्यायबोधिनी एवं उसके व्याख्यान से कर लेना चाहिए। सर्वान्त में महा-महोपाध्याय श्रीमदन्नम्भट्ट जी ने बालकों को काणाद (वैशेषिक) एवं न्याय के पदार्थों का झटिति ज्ञान (परिचय) हो जाय इसके लिए निर्मित ग्रन्थ की पूर्णता की सहर्ष घोषणा कर देते हैं। यद्यपि पदार्थ ज्ञान से मुक्ति होती है ऐसा 'तर्कसंग्रह' ग्रन्थ में न कहीं लिखा है, न कहीं न्याय या वैशेषिक सूत्र में आगत निःश्रेयसाधिगम का ही स्मरण किया है। परन्तु वैशेषिक सारणि से ग्रन्थ का आरम्भ एवं सात पदार्थों के ही अन्तर्गत सोलह न्यायसूत्र वर्णित

पदार्थों का अन्तर्भाव यह लक्षित करता है कि उभय का पदार्थज्ञान अन्नम्भट्ट जी को मोक्ष के लिए ही अभिप्रेत है। इसीलिए तर्कसंग्रह की अपनी दीपिका टीका में अन्त में "पदार्थज्ञानस्य परमप्रयोजनं मोक्षः" ऐसा लिखा है। उसी की पुष्टि में "तथाहि 'आत्मावारे'···तस्मात् पदार्थज्ञानस्य मोक्षः परमप्रयोजनम् इत्येव रमणीयम्" ऐसा लिखा है। इस प्रकार सात पदार्थों का सम्यक् एवं सरलतया प्रतिपादन एवं ज्ञान करना ही तर्कसंग्रह का प्रतिपाद्य है। उन पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति ही इसका मुख्य प्रयोजन है। शास्त्राध्ययन से वादिपराजयादि गौणप्रयोजन हैं। निःसन्देह अपने ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ दीपिका टीका का प्रणयन करके "कितने गम्भीर विषयों को कितनी सरलता एवं प्रसादगुणवत्ता से तर्कसङ्ग्रह में निरुपित किया है" इसका परिचय देकरके जहाँ तर्कसङ्ग्रह ग्रन्थ के प्रति हमारे हृदय में महान् आदर उत्पन्न करने का मार्ग प्रशस्त किया है वहीं अपने गंभीर वैदुष्य का भी परिचय दिया है, अन्त में मोक्ष क्या है एवं कैसे प्राप्त होता है, उसमें पदार्थों का तात्विक ज्ञान कितना परमावश्यक है यह प्रतिपादित करते हुए हमें तर्कों के जाल में फँसकर मरने के लिए न छोड़ कर, हमारे गन्तव्य की तरफ (मोक्ष की तरफ) हमारा ध्यान आकर्षित कर कितनी चतुराई से एवं सहजता से शास्त्रान्त में निर्वेद की प्राप्ति के लिए हमें उत्सुक ही नहीं सफल एवं धन्य भी बना देते हैं, साथ ही शास्त्रों के गभीरतल के मधुमय सोपान निर्माण करके एवं उनका दर्शन कराकर इसी तरह हमें उतर कर अत्यन्त शान्ति से गोता लगाने की शिक्षा भी दे देते हैं। ऐसे अकारणकारुणिक मनीषियों के उपकार से हम उपकृत तो सदा होते रहेंगे, साथ ही अनृण न हो पाने का सौभाग्य सुख भी हमें अनायास ही मिल जाता है। महामहोपाध्याय श्री अन्नम्भट्ट जी ने राजकोज्जीवनी—न्यायसुधा की वृहत्काय टीका मीमांसा विषय पर, वेदान्त पर ब्रह्मसूत्र व्याख्या, अष्टाध्यायी पर व्याकरण विषय में कैयट के प्रदीप पर उद्योतन टीका तथा न्याय विषय में जयदेव के मायालोक पर 'सिद्धाञ्जन' टीका लिख कर अपने सर्वविधवैदुष्य एवं अपनी महती सदाशयता का परिचय दिया है।

न्यायबोधिनी–श्री अन्नम्भट्ट के तर्कसङ्ग्रह पर लिखी उनकी टीका दीपिका के अतिरिक्त यदि किसी टीका को विशेष समादर विद्वन्मण्डली में मिला है तो वह न्यायबोधिनी है। इसके रचयिता सुधीप्रवर गोवर्धनाचार्य हैं। यह न्यायबोधिनी के आदि एवं अन्त के मङ्गला चरण से पता चलता है इस के अतिरिक्त उनके विषय में हमें कुछ विशेष जानकारी नहीं मिल पायीं है। समयाभाव से विशेष प्रयास नहीं कर सका हूँ। सम्भव हुआ तो अगले संस्करण में इस अभाव की अवश्य पूर्ति हो जाएगी। मङ्गलाचरण से इनकी श्रीकृष्ण में ऐकान्तिक-भक्ति का ज्ञान होता है। दीपिका की तरह ही न्यायबोधिनी के व्याख्यान से अतिसरल तेर्कसङ्ग्रह' ग्रन्थ के भाव गाम्भीर्य का परिज्ञान होता है। पठन-पाठन में तर्कसङ्ग्रह मूल के बाद पदकृत्य एवं उसके अनन्तर न्यायाबोधिनी का ही क्रम है उसके बाद न्यासिद्धान्तमुक्तावली का क्रम है 'तर्कसङ्ग्रह' ग्रन्थ न्यायवैशेषिक पदार्थों के सरलता ज्ञान के लिए लिखा गया है एतावता उसके टीका ग्रन्थों का भिन्न प्रयोजन नहीं हो सकता है। न्याय मुक्तावली भी वैशेषिक प्रधान प्रकरण ग्रन्थ है यह पूर्व में ही निरूपण किया जा चुका है। इस प्रकार वैशेषिक नैयायिक पदार्थों के ज्ञान के साधनभूत ग्रन्थों के आरोहक्रम के सञ्चयन में न्यायबोधिनी अत्यन्त सहायक टीका है। पदकृत्य में तर्कसङ्ग्रह के कुछ रहस्य एवं विशेष तथ्य का उद्भावन जो हुआ है, उसके साथ-साथ न्यायबोधनीकार ने पदार्थों के ज्ञान की मात्रा को बड़ी सजगता से आगे बढ़ाया है। मूलोक्त विषयों के विषय विवेचना के साथ ही कुछ स्थलों पर अवच्छेदकावच्छिन्ना लक्ष्यता, विषयता निरूपिता निरूप्य निरूपक एवं अवच्छेदक धर्मों एवं सम्बन्धों की जटिलता का भी दिग्दर्शन करा दिया है, ताकि यहाँ से थोड़ा परिचय प्राप्तकर लेने पर मुक्तावती की व्याप्तिविवेचना एक दम अपरिचित नहीं लगती है तथा उसमें प्रवेश एवं विज्ञान के लिए धरातल बन जाता है। यह न्यायबोधनी कार की अपनी विशेषता है। इस प्रकार न्याय-बोधिनी टीका ने आगे के नव्य न्याय के प्रति जिज्ञासा की जागरुकता जहाँ पैदा करती है वहीं तर्कसंग्रह की गूढ़ाशयता को भी प्रकाशित करती है। इस प्रकार

अन्नम्भट्ट की मानसिकता एवं प्रयास को ध्यान में रख कर उस ज्ञान मार्ग को आगे के लिए सुगम बनाकर न्याय बोधनी करने में न्यायवैशेषिक पदार्थ के जिज्ञासुओं का महान् उपकार किया है। यह सारी बातें अनुपद न्यायबोधिनी में मिलेगी ही अतः उदाहरण प्रस्तुत कर हम व्यर्थ विस्तार नहीं करके विराम लेते हैं।

पारिभाषिक शब्दों के अर्थ प्रतियोगी अनुयोगी एवं प्रतियोगिता अनुयोगिता—अभाव सम्बन्ध एवं सादृश्य का कोई न कोई प्रतियोगी एवं अनुयोगी होता है। जिसका अभाव सम्बन्ध एवं सादृश्य होगा वही अभाव सम्बन्ध या सादृश्य का प्रतियोगी होगा तथा जिसमें अभाव सम्बन्ध एवं सादृश्य रहेगे वह सादृश्य सम्बन्ध एवं अभाव के अनुयोगी होवेगा। घटाभाववद् भूतल यहाँ घट का अभाव है अतः अभाव का प्रतियोगी घट हुआ तथा भूतलमें अभाव है अतः भूतल अनुयोगी है। इसी प्रकार चन्द्रवद् मुखम् में चन्द्रका सादृश्य है अतः चन्द्र सादृश्य का प्रतियोगी है एवं मुख में चन्द्रका सादृश्य है अतः मुख अनुयोगी है। इसी प्रकार घटसंयोगवद् भूतल में घट का संयोग है अतः संयोग का प्रतियोगी घट है एवं संयोग भूतल में है अतः भूतल संयोग का अनुयोगी है। प्रतियोगी में प्रतियोगिता रहती है इसी प्रकार अनुयोगी में अनुयोगिता रहेगी। लक्ष्यता भी तुल्य न्यायात् लक्ष्य में रहेगी इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी समझ लेना चाहिए।

अवच्छेदक अवच्छिन्न—किसी वस्तु का पदार्थ का परिच्छेदक नियामक या नियन्त्रक गुण धर्मादि उसके अवच्छेदक कहलाते है तथा वस्तु या पदार्थ उस धर्मादि से अवच्छिन्न होते है। जैसे घट घटत्व धर्म से अवच्छिन्न है क्योंकि घटत्व धर्म उसका अवच्छेदक है।

निरूप्य निरूपक—सापेक्ष धर्मों में परस्पर निरूप्य निरूपकभाव होता है। जैसे प्रतियोगिता अनुयोगिता का निरूपक है एवं अनुयोगिता प्रतियोगिता

का (निरूपित) है। तुल्य न्याय से अनुयोगिता भी प्रतियोगिता का निरूपक है एवं प्रतियोगिता अनुयोगिता का निरूप्य (से निरूपित) है। इसी प्रकार जन्यता जनकता, अवच्छेदता अवच्छेदकता, आधारता आधेयता, विषयता विषयिता आदि को समझ लेना चाहिए।

इनके अतिरिक्त अन्य पारिभाषिक शब्दों का व्याख्यान प्रसङ्ग में ही अर्थ कर दिया गया है जैसे प्रकार=विशेषण, प्रकारता=विशेषणता। सामानाधिकरण=समान=एक अधिकरण में रहने वाले दो या दो से अधिक पदार्थ सामानाधिकरण कहलाते हैं तथा उनका परस्पर सामानाधिकरण्य सम्बन्ध होता है। समानाधिकरण में रहने वालों का विशेषणीभूत भाव। इसी प्रकार प्रायः कठिन एवं पारिभाषिक शब्दों का हिन्दी व्याख्या क्रम में निर्वचन किया गया है। अतः उनका ज्ञान वहीं तथा स्थान हो जाएगा।

प्रवृत्तिबीज—सभी शास्त्रों एवं शास्त्रकारों के प्रवृत्ति का बीज यद्यपि राजीवदयावशंवदता ही है। लोक हित में अपने ज्ञान एवं अर्जित तपस्या का सदुपयोग ही प्रवृत्ति का बीज रहा है तथापि न्याय या वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थ न्याय कारिकावली एवं मुक्तावती के रचयिता ने राजीव दया वशंवदता की उद्घोषणा कर दी। बाद में या पहले भी पदार्थों के अनेक व्याख्याता अब तक स्पष्ट इसका निर्वचन कर चुके हैं। वह राजीव व्यक्ति भी हो सकता है समाज भी। अन्नम्भट्ट ने भी 'बालानां सुख बोधाय' कहा ही है। अतः इसमें बहुत विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

तर्कसङ्ग्रह न्याय वैशेषिक पदार्थों के परिचयात्मक ज्ञान का प्रथम सोपान या प्रवेशद्वार कहा जा चुका है। उसके पदार्थों के लक्षण एवं उदाहरणों की परीक्षा अव्याप्त्यसम्भवादि द्वारा करके, उक्तानुक्त द्विरुक्त सब प्रकार की आपत्ति अनुपपत्ति के निवारणद्वारा मूल ग्रन्थ के अभिप्राय प्रस्फोटन एवं शुद्धता तथा सार्थकता की सिद्धि करना ही टीकाओं एवं व्याख्याओं की सार्थकता रही है। यही सभी टीकाकारों ने की है। आज हिन्दी पठन-पाठन का माध्यम बन चुका है। संस्कृत के परम्परागत पठन-पाठन में भी आज काशी में यही स्थिति है। हिन्दी राष्ट्रभाषा एवं उत्तरी भारतीयों की मातृभाषा भी है।

अतः प्रचलित लोकभाषा में किसी ज्ञान को प्रकाशित करने से पदार्थों के अवबोधन में निश्चय ही सुगमता आ जाती है। न्यायबोधिनी तर्कसङ्ग्रह की टीका है उसकी व्याख्या है। वह तर्कसङ्ग्रह के बाद न्याय वैशेषिक पदार्थों के ज्ञान में चौथा सोपान प्रमाणित हो रहा है। अतः उसका हिन्दी व्याख्यान अत्यन्त आवश्यक था। प्रथम सोपान तो स्वयं तकंसङ्ग्रह है, द्वितीय दीपिका है। अभी तक इसका हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ है। इसलिए बहुत दिन से इसके लिए मेरा चित्तव्याकुल रहता था कि यदि न्यायबोधिनी की हिन्दी व्याख्या कर दी जाय तो बहुत से लोगों न्याय के पदार्थों के ज्ञान की यात्रा में इस सोपान का अतिक्रमण एवं अग्रिम सोपान करिकावली मुक्तावली तक पहुँचने में आसानी हो जाएगी। न्यायबोधिनी का प्रस्तुत हिन्दी व्याख्यान यद्यपि १९७४ में ही तैयार किया जा चुका था। पर संयोग की बात है कि उसे जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत होने का अब अवसर प्राप्त हुआ है। जिन्हें संस्कृत की परम्परागत सरणी से परिचय नहीं है उन्हें हिन्दी पदार्थों के ज्ञान कराने का सशक्त माध्यम है। इस प्रकार परम्परागत संस्कृत प्रक्रिया से पढ़ने वाले छात्रों एवं आधुनिक शिक्षा के विद्यालयों में पढ़ाने वाले तथा छात्रों का न्यायबोधिनी के वर्ण्य विषय से सुगमता से परिचय कराने का लोभ ही सर्वाधिक हिन्दी व्याख्या का प्रेरक रहा है। इस प्रकार न्यायवैशेषिक पदार्थों के प्रथम सोपान तर्कसङ्ग्रह में वर्णित पदार्थों का लक्षणादिद्वारा विशिष्ट परिचय तो इस के माध्यम से होगा ही; पर न्यायवैशेषिक ग्रन्थों की अग्रिम जटिल यात्रा एक दम अपरिचित न लगे इसके लिए कहीं एकाध स्थल किए गए अवच्छेकावाच्छिन्न एवं निरूप्यनिरूपक जैसे जटिल शब्दों एवं अर्थों का परिचय कराना जो न्यायबोधिनी कार को इष्ट है वह भी न्यायबोधिनी के हिन्दी व्याख्यान से अधिक ही सुसाध्य हो जाएगा। राष्ट्रभाषा हिन्दी का ज्ञान कोश भी समृद्ध होगा यह हिन्दी (न्यायबोधिनी की) व्याख्या का अवान्तर लाभ है विषय विस्तार भेद से व्याख्या का कलेवर जहाँ तक हो सका है अतिसङ्क्षिप्त ही रखा गया है वहाँ अर्थान्तर कोष्ठक एवं विषय का निर्वाचन विशेष रूप से किया है, तथापि नातिविस्तर।

आभार प्रदर्शन–ऋषियों एवं मनीषियों के संकल्पों एवं अकारणकरुणा-परायण होकर हम लोगों के अज्ञान को दूर करने के लिए किये गए प्रयत्नों के कारण हम सर्वाधिक सामाजिक आभार उन्हीं के प्रति प्रगट करते हैं। जो इस पवित्र यज्ञ में निरन्तर अपने को हूत करते हैं, कर रहे हैं एवं करते रहेंगे उन सबका आभार हम व्यक्त करते हैं। भारतीय विद्या प्रकाशन का हम आभार प्रगट करते हैं जो संस्कृत के नये ग्रन्थों एवं प्राचीन ग्रन्थों का प्रचार-प्रसार एवं प्रकाशन विशेष उत्साह से करने में चिरकाल से लगे हैं तथा चिरकाल तक निरन्तर भारतीय विद्याओं की सेवा में ही अपना एवं अपने परिवार का जीवन समर्पित करने का दृढ़व्रत लेकर आगे बढ़ रहे हैं। हम उनका सबसे अधिक आभार स्वीकार करेंगे जिन्हें हमारे प्रयास से कुछ भी लाभ पहुँचेगा एवं जो लाभ उठा सकेंगे तथा हमारी कमी की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट कर आगे आने वाले समाज के महान् उपकार के सहभागी होवेंगे।

क्षमा प्रार्थना—समयाभाव एवं प्रमाद वश जो त्रुटि रह गई है उसके अग्रिम संस्करण में संशोधन की प्रतिज्ञा के साथ हम सुधियों से क्षमा प्रार्थी हैं।

विद्वदनुचर

दीपावली, सं० २०४६ **नर्वदेश्वर तिवारी**

★ ★ ★

विषयानुक्रमणिका

न्यायबोधिन्याम्

प्रत्यक्षपरिच्छेदः

विषयः	पृष्ठम्
१. मङ्गलार्थनिरूपणम्	१
२. पदार्थविभागनिरूपणम्	२
३. सप्तग्रहणप्रयोजननिरूपणम्	२
४. शक्तेरतिरिक्तपदार्थत्वखण्डनम्	२–३
५. तमसो दशमद्रव्यत्वखण्डनम्	४
६. पृथिवीलक्षणप्रसङ्गे लक्ष्यतादिनिरूपणम्	८
७. वायुलक्षणप्रसङ्गे अव्याप्त्यादिस्वरूपनिरूपणम्	११
८. अव्याप्त्यादीनां निष्कृष्टलक्षणानि	११
९. आकाशलक्षणनिरूपणम्	१४
१०. विभुत्व-मूर्तत्व-भूतत्वनिरूपणम्	१४
११. आत्मलक्षणप्रसङ्गे सम्बन्धनिरूपणम्	१६
१२. मनोलक्षणनिरूपणम्	१६–१७
१३. रूपलक्षणनिरूपणम्	१७–१८
१४. स्पर्शलक्षणनिरूपणम्	२१
१५. रूपादिचतुष्टयस्य पाकजत्वादिनिरूपणम्	२१–२२
१६. विभागलक्षणनिरूपणम्	२५
१७. गुरुत्वलक्षणनिरूपणम्	२६
१८. शब्दलक्षणनिरूपणम्	२८
१९. बुद्धिस्मृत्योर्लक्षणनिरूपणम्	३०
२०. अनुभवलक्षणनिरूपणम्	३२
२१. यथार्थानुभवलक्षणनिरूपणम्	३२

विषयः	पृष्ठम्
२२. अयथार्थानुभवलक्षणनिरूपणम्	३४–३५
२३. यथार्थानुभवतत्करणानां चातुर्विध्यम्	३५–३६
२४. करणलक्षणनिरूपणम्	३६
२५. कारणलक्षणनिरूपणम्	३७
२६. कार्यलक्षणनिरूपणम्	३९
२७. समवायिकारणलक्षणनिरूपणम्	४०
२८. असमवायिकारणलक्षणनिरूपणम्	४१-४२
२९. निमित्तकारणलक्षणम्	४४–४५
३०. कारणलक्षणे व्यापारवत्त्वविशेषणप्रयोजनम्	४५
३१. प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणनिरूपणम्	४६–४७
३२. प्रत्यक्षप्रमालक्षणनिरूपणम्	४७–४८
३३. निर्विकल्पकसविकल्पकलक्षणनिरूपणम्	४८–४९
३४. षड्विधसन्निकर्षनिरूपणम्	५०–५७

अनुमानपरिच्छेदः

३५. अनुमानलक्षणनिरूपणम्	५८
३६. अनुमितिलक्षणनिरूपणम्	५९
३७. परामर्शलक्षणनिरूपणम्	५९–६०
३८. अनुमितिपरामर्शयोः कार्यकारणभावनिरूपणम्	६०
३९. व्याप्तिस्वरूपनिरूपणम्	६२
४०. पक्षतास्वरूपनिरूपणम्	६४
४१. स्वार्थानुमानपरार्थानुमानस्वरूपनिरूपणम्	६४–६५
४२. पञ्चावयवनिरूपणम्	६६
४३. त्रिविधलिङ्गस्वरूपनिरूपणम्	६६–७१
४४. पक्षलक्षणनिरूपणम्	७२–७३
४५. सपक्षविपक्षस्वरूपनिरूपणम्	७३–७४

विषयः	पृष्ठम्
४६. हेत्वाभाससामान्यनिरूपणम्	७५
४७. सव्यभिचारसामान्यलक्षणनिरूपणम्	७६
४८. साधारणसाधारणयोः स्वरूपनिरूपणम्	७६–७८
४९. अनुपसंहारिलक्षणनिरूपणम्	७८
५०. विरुद्ध हेत्वाभासस्वरूपनिरूपणम्	७९–८०
५१. सत्प्रतिपक्षस्वरूपनिरूपणम्	८०
५२. त्रिविधासिद्धनिरूपणम्	८१–८३
५३. उपाधिस्वरूपनिरूपणम्	८३–८४
५४. बाधितस्वरूपनिरूपणम्	८५
उपमानपरिच्छेदः	
५५. उपमानोपमित्योः स्वरूपनिरूपणम्	८६
शब्दपरिच्छेदः	
५६. शब्दप्रमाणनिरूपणम्	८८
५७. शक्तिस्वरूपनिरूपणम्	८८
५८. लक्षणास्वरूपनिरूपणम्	८८–८९
५९. आकाङ्क्षादिस्वरूपनिरूपणम्	९१–९३
अवशिष्टपरिच्छेदः	
६०. संशयविपर्यमतर्काणां स्वरूपनिरूपणम्	९४–९५
६१. सुखदुःखयोर्लक्षणस्वरूपनिरूपणम्	९५–९६
६२. संस्कारभेदानां स्वरूपनिरूपणम्	९८–१००
६३. सामान्यलक्षणनिरूपणम्	१०४
६४. विशेषलक्षणनिरूपणम्	१०५
६५. समवायनिरूपणम्	१०६–१०७
६६. अत्यन्ताभावान्योन्याभावस्वरूपनिरूपणम्	१०८–१०९
६७. सर्वपदार्थानां सप्तस्वन्तर्भावनिरूपणम्	१०९–११०

★ ★ ★

ॐ

तर्कसंग्रहः

न्यायबोधिनी-हिन्दीव्याख्या-संवलितः

प्रत्यक्षपरिच्छेदः

★★★

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम् ।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः ॥

॥ हिन्दीव्याख्याकर्तुर्मङ्गलाचरणम् ॥

यस्य प्रसादमात्रेण सर्वविद्याप्रकाशनम् ।
जायते तस्य देवस्य गच्छामि शरणं शिवम् ॥

तर्कसङ्ग्रहग्रन्थो यस्तट्टीका न्यायबोधिनी ।
तयोरर्थविकासाय हिन्दीव्याख्या विधीयते ॥

मङ्गलाचरण

त०—महामहोपध्याय श्रीअन्नम्भट्टजी कहते हैं, कि मेरे द्वारा विश्वेश को हृदय में धारण करके तथा गुरु की वन्दना करके बालकों को सुखपूर्वक पदार्थों का ज्ञान हो जाय, इसके लिए तर्कसंग्रह बनाया जा रहा है ।

न्यायबोधिनी

अखिलागमसञ्चारि श्रीकृष्णाख्यं परं महः ।
ध्यात्वा गोवर्धनसुधीस्तनुते न्यायबोधिनीम् ॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थमिष्टदेवतानमस्कारात्मकं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै ग्रन्थतो निबध्नाति—निधायेति ।

न्या०—समस्त आगमों के प्रतिपाद्य, श्रीकृष्ण नाम से प्रसिद्ध, लोकोत्तर तेज का ध्यान करके विमल-बुद्धि गोवर्धन तर्कसंग्रह की न्यायबोधिनी नामक टीका का विस्तार कर रहा है ।

निर्माण किए जाने वाले ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्णता के लिए इष्टदेवता के नमस्कारात्मक मंगल को करते हुए, तथा आगे आने वाली शिष्य परम्परा को मङ्गल करने की शिक्षा देने के उद्देश्य से, प्रथमतः ग्रन्थ में मङ्गल का निबन्धन करते हुए ग्रन्थकार ने "निधाय" इत्यादि लिखा है ।

विशेष—मङ्गल को कुछ लोग विघ्न ध्वंस का कारण मानते हैं । तथा कुछ लोग मङ्गल को निर्विघ्न ग्रन्थ की पूर्णता का ही कारण मानते हैं । यहाँ न्यायबोधिनीकार को निर्विघ्न ग्रन्थ की पूर्णता ही मङ्गल का फल अभिप्रेत है । आगे "शिष्यशिक्षायै" लिखने का उनका यह अभिप्राय है कि वह मङ्गल तो बिना लिखे भी किया जा सकता है । फिर लिखने की क्या आवश्यकता ? अतः उसका प्रयोजन है, कि शिष्य परम्परा अथवा इस ग्रन्थ के अध्ययन करने वाले को भी इसका ज्ञान हो जाय कि ग्रन्थ (या किसी कार्य की) निर्विघ्न पूर्णता के लिए ग्रन्थ के या (कार्य के) आदि में अवश्य ही मङ्गल कर लेना चाहिए ।

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः ॥

त०—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ होते हैं ।

न्यायबोधिनी

अथ पदार्थान् विभजते—द्रव्येति । तत्र सप्तग्रहणं पदार्थत्वं द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वव्याप्यमिति व्याप्तिलाभाय ।

ननु शक्तिपदार्थस्याष्टमस्य सत्त्वात् कथं सप्तैवेति । तथाहि वह्निसंयुक्तेन्धनादौ सत्यपि मणिसंयोगे दाहो न जायते, तच्छून्येन तु जायते । अतो

न्यायबोधिनी

मणिसमवधाने शक्तिर्नश्यति मण्यभावदशायां दाहानुकूला शक्तिरुत्पद्यत इति कल्प्यते। तस्मात् शक्तिरतिरिक्तः पदार्थ इति चेत्, न, मणेः प्रतिबन्धकत्वेन मण्यभावस्य कारणत्वेनैव निर्वाहे मणिसमवधानासमवधानाभ्यामनन्त-शक्तितद्ध्वंसतत्प्रागभावकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। तस्मात् सप्तैवेति सिद्धम्।

न्या०—पदार्थों का विभाग करते हुए 'द्रव्य गुण' इत्यादि मूल में ग्रन्थकार ने लिखा है; तथा "सप्त" का ग्रहण इसलिए किया है, कि द्रव्यादि जो सात, उनमें रहने वाले अन्यतमत्व धर्म का व्याप्य ही पदार्थत्व है, इस व्याप्ति का लाभ हो सके। (अर्थात् द्रव्यादि सात से भिन्न आठवाँ कोई भी पदार्थ नहीं है।)

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि शक्ति भी उपर्युक्त सात पदार्थों के अलावा एक भिन्न (आठवाँ) पदार्थ प्रतीत होता है। फिर "पदार्थ सात ही होते हैं" ऐसा क्यों कहा गया? चूंकि अग्नि से संयुक्त ईंधन आदि के रहने पर भी मणिसंयोग होने पर दाह उत्पन्न नहीं होता है। तथा मणि के संयोग न रहने पर दाह होता है। अतः यह मानना चाहिए, कि मणि के रहने पर जो आग की दाहिका शक्ति है, वह नष्ट हो जाती है, तथा मणि के अभाव की दशा में दाह की जनिका शक्ति उत्पन्न होती है। अतः शक्ति नामक अतिरिक्त आठवाँ पदार्थ भी मान लेना चाहिए।

पर उनका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य के प्रति प्रतिबन्धकाभाव (कार्य के प्रतिबन्धक के अभाव) को भी कारण मानना ही पड़ता है। अर्थात् प्रतिबन्धक के रहने पर कोई कार्य नहीं हो सकता है, इसे सभी जानते हैं। अतः कोई भी कार्य, उस कार्य के प्रतिबन्धक के न रहने पर ही होगा। इसलिए कार्य के प्रति उस कार्य के प्रतिबन्ध के अभाव को भी कारण माना जाता है। तब मणि की दाह के प्रति प्रतिबन्धकता मान लेने से ही, यहाँ कार्य का उचित निर्वाह हो जायगा; फिर मणि समवधान (सामीप्य) असमवधान (असामीप्य) को लेकर अनन्त शक्ति, उनका ध्वंस, तथा उनके प्रागभावों की कल्पना अन्याय है। अतः पदार्थ सात ही हैं, यह सिद्ध होता है।

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव ।

त०—उन सात पदार्थों में द्रव्य, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् आत्मा एवं मन के भेद से नौ ही प्रकार का होता है ।

न्यायबोधिनी

द्रव्याणि विभजते—पृथिवीति । नन्वन्धकारस्य दशमद्रव्यस्य सत्त्वात् कथं नवैवेति । तथाहि नीलं तमश्चलतीति प्रतीतेर्नीलरूपाश्रयत्वेन क्रियाश्रयत्वेन च द्रव्यत्वं सिद्धम् । न च क्लृप्तद्रव्येष्वन्तर्भावात् कुतो दशमद्रव्यत्वमिति वाच्यम् । तमसो रूपवत्त्वात् आकाशादिपञ्चकस्य वायोश्च नीरूपत्वान्न तेष्वन्तर्भावः । तमसो निर्गन्धत्वान्न पृथिव्यामन्तर्भावः । जलतेजसोः शीतोष्णस्पर्शवत्वान्न तयोरन्तर्भावः । तस्मात्तमसो दशमद्रव्यत्वं सिद्धमिति चेत् न, तेजोऽभावरूपत्वेनैवोपपत्तावतिरिक्ततत्कल्पनायां मा नाभावात् । न च विनिगमनाविरहात् तेज एव तमोऽभावस्वरूपमस्त्वितिवाच्यम्, तेजसोऽभावस्वरूपत्वे सर्वानुभूतोष्णस्पर्शाश्रयद्रव्यान्तरकल्पने गौरवात् । तस्मादुष्णस्पर्शगुणाश्रयतया तेजसो द्रव्यत्वं सिद्धम् । तमसि नीलत्वादिप्रतीतिस्तु भ्रान्तिरेव, दीपापसरणक्रियाया एव तत्र भानात् ।

न्या०—द्रव्य नामक पदार्थ का विभाग करते हुए "पृथिव्यप्०" इत्यादि मूल में लिखा हैं ।

यहाँ एक और विचार है कि, अन्धकार नामक एक अन्य दशम द्रव्य होने पर भी द्रव्य नौ ही होते हैं ।" यह क्यों कहा गया है ? क्योंकि नीला अन्धकार चलता है" यहाँ अन्धकार में नील रूप (गुण) की एवं गमन आदि क्रिया की प्रतीति होने से अन्धकार के, गुण एवं क्रिया के आश्रय होने से उसमें द्रव्यत्व की सिद्धि हो जाती है । यदि यह कहा जाय, कि अन्धकार का पूर्वोक्त नव द्रव्यों में ही अन्तर्भाव हो जाने से उसके पृथक् द्रव्यत्व की सिद्धि कैसे हो पाएगी ? तो ठीक नहीं । क्योंकि तम रूपवान् है । यह अनुभव होता है । तब आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन एवं वायु इन छः निरूप द्रव्यों में

तो उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता हैं। रह गई पृथिवी जल एवं तेज की बात, तो तम के निर्गन्ध होने के कारण, गन्धवती पृथिवी में भी उसका अन्तर्भाव नहीं हो पाएगा। तथा जल के शीत स्पर्श वाले, एवं तेज के उष्णस्पर्श वाले होने से, एवं तम के स्पर्शरहित होने से उसका जल एवं तेज में भी अन्तर्भाव नहीं हो पाएगा। अतः नील रूप वाला एवं गमन आदि क्रियावाला होने से, गुणाश्रय एवं क्रियाश्रय होने के कारण, उन नवों से भिन्न होने के कारण तम को भी (दशवाँ) द्रव्य मान लेना चाहिए।

पर यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव नामक पदार्थ तो माना ही जाता है। तब तेज के अभाव को ही, तम मान लेने से, कार्य सिद्धि, तम को बिना द्रव्य माने भी हो ही जायेगी। तब अतिरिक्त दशम द्रव्य तम की, बिना प्रमाण के कल्पना करना ठीक नहीं। यदि यह कहो कि तम नामक द्रव्य ही मान लीजिए, तेज नामक द्रव्य क्यों मानते हैं ? क्योंकि तुल्य-न्याय से आपकी ही तरह तम का अभाव ही तेज है; ऐसा मान लेने में क्या क्षति है ? [तथा इस प्रकार "नवैव" यह मूल भी सङ्गत हो जाता है।] तो ठीक नहीं; क्योंकि तेज को अभाव रूप (तमोऽभाव) मान लेने पर जिस उष्णस्पर्श का सबको अनुभव होता है; उसके आश्रय एक द्रव्यान्तर (अन्य द्रव्य) की भी कल्पना करनी पड़ेंगी। यह गौरव होगा। अतः उष्ण स्पर्श के आश्रयभूत तेज को द्रव्य तो मानना ही पड़ेगा। [तब तेज के अभाव के ही तमरूप होने से उसे (तम को) द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं।]

सच पूछिए तो तम में नीलत्व आदि की प्रतीति तो भ्रान्ति ही है। क्योंकि दीपादि (तेज) के अपसारण क्रिया का ही (वहाँ) अन्धकार स्थल में भान होता है। [क्योंकि 'दीप चल रहा है' यह प्रतीति होती है, न कि 'तम चल रहा है' यह। अन्धकार में चलने आदि क्रिया की प्रतीति तो केवल भ्रमवश ही होती है, कहने का यही भाव है।]

रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराश्चतुर्विंशतिर्गुणाः। उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि। परमपरञ्चेति द्विविधं सामान्यम्। नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव। समवायस्त्वेक एव। अभावश्चतुर्विधः प्रागभावः, प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति। इत्युद्देशग्रन्थः।

त०—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार, ये चौबीस (२४) गुण होते हैं।

उत्क्षेपण (उपर फेंकना), अपक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुञ्चन (बटोरना), प्रसारण (फैलाना) और गमन ये पाँच कर्म होते हैं।

पर—(अधिक देश में रहने वाली, जैसे सत्ता) और अपर—कम देश में रहने वाली, जैसे द्रव्यत्व आदि) के भेद से सामान्य (जाति) दो प्रकार का होता है।

नित्य द्रव्यों (पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु के परमाणु तथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मन) में रहने वाले विशेष (अपने आश्रय के अनन्त होने के कारण) अनन्त होते हैं।

समवाय (सम्बन्ध) तो एक ही होता है। (समवैति=नित्यं सम्बध्नाति, के आधार पर इसे नित्यसम्बन्ध भी कहा जाता है।)

प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव।

["नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनमुद्देशः" जिस ग्रन्थ में केवल किसी वस्तु का नाम लेकर मात्र परिचय दिया जाता है या केवल नाम की गणना की

जाती है उसे उद्देश ग्रन्थ कहते हैं। अतः इस नियम के अनुसार सातो पदार्थों का सामान्य एवं विशेष, दोनों प्रकार से, केवल अभीतक नाम संकीर्तन = नाम्नापरिचय (परिगणन) होने से] इससे पहले के ग्रन्थ को ग्रन्थकार ने उद्देशग्रन्थ कहा है।

विशेष—उपर्युक्त नाममात्र से वर्णित पदार्थों में पदार्थ, द्रव्य गुण एवं अभावका लक्षण ग्रन्थ में कहीं नहीं दिया है। कर्म, सामान्य विशेष एवं समवाय का लक्षण तो परिशिष्ट भाग में किया हुआ है।

इसी प्रकार कर्मादि के भेदों के भी लक्षण परिशिष्ट से ज्ञात हो जायेंगे। इसलिए पदार्थ द्रव्य, गुण एवं अभाव ऐसे तत्व बच जाते हैं जिनकी परिभाषा विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। अतः क्रमशः उनका निरूपण किया जा रहा है।

पदार्थ—

पद (शब्द) के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का वस्तुमात्र किसी न किसी पद का अर्थ होने से पदार्थ हुआ। तात्विक विवेचना के प्रसङ्ग में न्याय वैशेषिक विद्वानों ने सात पदार्थों के रूप में ब्रह्माण्ड का विभाजन किया है। ऐसे द्रव्यादिसप्तान्यतमत्व भी पदार्थ का लक्षण हो सकता हैं। ऐसा शास्त्रकारों का अभिप्राय है।

द्रव्य—

"समवायिकारणं द्रव्यम्—गुणाश्रयो वा" द्रव्यादि सात पदार्थों में जो किसी कार्य के प्रति समवायिकारण हो या गुण का आश्रय हो, उसे द्रव्य कहते हैं। "पृथिव्याद्यन्यतमत्व—" भी द्रव्य का लक्षण होगा।

गुण—

सामान्यवान् असमवायि-कारण एवं (कर्मभिन्न) स्पन्दात्मा गुण का लक्षण हैं।

अभाव—

"भावः सत्ता, न भावः अभावः"। अर्थात् (किसी की) सत्ता की अनुपलब्धि ही (उसका) अभाव है।

तत्र गन्धवती पृथिवी। सा द्विविधा। नित्या, अनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणम् नासाग्रवर्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः।

त०—उन नव द्रव्यों में पृथिवी गन्ध वाली है। वह दो प्रकार की होती है। एक नित्य और दूसरी अनित्य है, जो पृथिवी परमाणु रूप है, वह नित्य है, तथा जो कार्य रूप (उत्पन्न विनष्ट होनेवाली) पृथिवी है वह अनित्य है। कार्यरूपा (अनित्य) पृथिवी शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार की होती है। शरीररूपपृथिवी हम लोगों (मानव, पशु, पक्षि आदिकों का) का शरीर है। (पार्थिव) इंन्द्रिय, गन्ध का ग्रहण करने वाली घ्राण है, जो नासिका के अग्रभाग में, रहती है। तथा (पार्थिव) विषय मिट्टी पाषाण आदि हैं।

न्यायबोधिनी

गन्धवतीति। गन्धवत्त्वं पृथिव्या लक्षणम्। लक्ष्या पृथिवी। पृथिवीत्वं लक्ष्यतावच्छेदकम्। यद्धर्मावच्छिन्नं लक्ष्यं स धर्मो लक्ष्यतावच्छेदकः। यो धर्मो यस्यावच्छेदकः स तद्धर्म्मावच्छिन्नः। तथा च लक्ष्यतावच्छेदकं पृथिवीत्वं चेत्—लक्ष्यता पृथिवीत्वावच्छिन्ना।

गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं पृथिव्याः लक्षणम्। एवं शीतस्पर्शवत्त्वादिलक्षणेषु जलादीनां लक्ष्यता जलत्वादीनां लक्ष्यतावच्छेदकत्वं च बोध्यम्।

न्या०—गन्धवत्व (गन्ध) पृथिवी का लक्षण है। पृथिवी लक्ष्या है। (पृथिवी में रहने वाला) पृथिवीत्व (धर्म) लक्ष्यता का अवच्छेदक है। (लक्ष्य में लक्ष्यता रहती है।) जिस धर्म से लक्ष्य अवच्छिन्न होगा, वही धर्म (लक्ष्य में रहने वाली) लक्ष्यता का अवच्छेदक होगा। जो धर्म जिसका अच्छेदक होता है, वह उस धर्म से अवच्छिन्न होता है। इस प्रकार पृथिवी में रहने वाली लक्ष्यता का अवच्छेदक पृथिवीत्व हो रहा है। अतः पृथिवी में रहने वाली लक्ष्यता, पृथिवीत्व धर्म से अवच्छिन्ना हुई।

गन्ध के समान अधिकरण में (अर्थात् गन्ध का जो अधिकरण उसी में) रहने वाली जो द्रव्यत्व की व्याप्य जाति (पृथिवीत्व) वह जिसमें हो, तत्त्व (उसमें रहने वाली जाति, पृथिवीत्व) पृथिवी का लक्षण होगा। छोटों की अपेक्षा जो बड़ा होता है, वह बड़ा उस छोटे की अपेक्षा व्यापक कहलाता है।[1] इसी प्रकार अपने से बड़े की अपेक्षा छोटा व्याप्य कहलाता है। इसी प्रकार शीतस्पर्शवत्व आदि लक्षणों में जलादि की लक्ष्यता और जलत्व आदि के लक्ष्यता के अवच्छेदकत्व को समझ लेना चाहिए।[2]

शीतस्पर्शवत्य आपः। ता द्विविधाः। नित्याः अनित्याश्च। नित्याः परमाणुरूपाः अनित्याः कार्य्यरूपाः। पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरुणलोके। इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। विषयः सरित्समुद्रादिः॥

त०—जल-शीत स्पर्श वाला होता है। वह भी पृथिवी की तरह नित्य और अनित्य दो तरह का होता है। परमाणु रूप जल नित्य है। तथा कार्यरूप जल अनित्य है। शरीर, इन्द्रिय एवं विषय के भेद से कार्य रूप जल भी तीन तरह का होता है। जलीय शरीर वरूणलोक में है। (ऐसी प्रसिद्धि है)। जलीय इन्द्रिय रस का ग्रहण करनेवाली रसना है. जिह्वा के अग्रभाग पर रहती है। जलीय विषय नदी समुद्र आदि हैं।

उष्णस्पर्शवत्तेजः। तच्च द्विविधम्। नित्यमनित्यञ्च। नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमादित्यलोके प्रसिद्धम्। इन्द्रियं

---

१. अर्थात् जलादि में रहने वाली लक्ष्यता (उपर्युक्त पृथ्वी की तरह) जलत्व आदि से अवच्छिन्न है, एवं जलत्व आदि जलादिनिष्ठलक्ष्यता के अवच्छेदक होगें।

२. इस प्रकार द्रव्यत्व जाति सभी द्रव्यों में रहेगी। परन्तु पृथ्वीत्व जाति द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा व्याप्य जाति है। तथा पृथ्वीत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व जाति व्यापक है।

रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधो भौमदिव्योदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्यादिकम्। अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतुरुदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि।

त०—तेज उष्ण स्पर्श वाला है। यह भी नित्य और अनित्य के भेद से दो तरह का होता है। परमाणुरूप तेज नित्य एवं कार्य रूप तेज अनित्य होता है। यह भी कार्य रूप तेज इन्द्रिय एवं विषय के भेद से तीन प्रकार का होता है। तैजस शरीर आदित्यलोक (सूर्यलोक) में प्रसिद्ध है। तैजस इन्द्रिय, रूप का ग्रहण करने वाली चक्षु है, जो आँख की काली पुतली के अगले भाग पर रहती है। तैजस चार प्रकार के होते हैं, भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज। अग्नि आदि भौम (तैजस विषय) हैं। पानी इन्धन जिसका, वह विद्युत् आदि दिव्य (तैजस विषय) हैं। खाए हुये भोजन के पचाने का जो हेतु उस (तैजस विषय) को उदर्य कहते हैं। आकरज (खान से पैदा होने वाले) सुवर्ण आदि (तैजस विषय) हैं।

रूपरहितस्पर्शवान् वायुः। स द्विविधः। नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक् सर्वशरीरवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः। शरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राणः। स चैकोऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादिसंज्ञां लभते।

त०—रूप से रहित एवं स्पर्श गुण से युक्त द्रव्य वायु कहलाता है। वह भी नित्य और अनित्य दो प्रकार का होता है। परमाणु रूप वायु नित्य एवं कार्य रूप अनित्य होता है। (वह कार्य रूप वायु) शरीर इन्द्रिय एवं विषय के भेद से पुनः तीन प्रकार का होता है। (वायवीय) शरीर वायु लोक में होता है। (वायवीय) इन्द्रिय स्पर्श गुण का ग्रहण करने वाला त्वक् है, जो सम्पूर्ण शरीर में होता है। (वायवीय) विषय वृक्ष आदि के कम्पन का हेतु है।

शरीर के अन्दर घूमने वाला वायु प्राण कहलाता है। वह एक होने पर भी स्थान एवं गति रूप उपाधि के कारण प्राण आदि संज्ञाओं (नामों) को प्राप्त करता है।

न्यायबोधिनी

एवं पृथिव्यादित्रिकं निरूप्य वायुं निरूपयति—रूपरहितेति। रूपरहितत्वे सति स्पर्शवत्त्वं वायोर्लक्षणम्। सति सप्तम्या विशिष्टार्थकतया सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविशिष्टस्पर्शवत्त्वं वायोर्लक्षणम्। विशेषणांशानुपादाने स्पर्शवत्त्वमात्रस्य लक्षणत्वे पृथिव्यादित्रिकेऽतिव्याप्तिः, तद्वारणाय विशेषणोपादानम्। तावन्मात्रोपादाने आकाशादावतिव्याप्तिः, तद्वारणाय विशेष्योपादानम्। अतिव्याप्तिर्नाम—अलक्ष्ये लक्षणसत्त्वम्। यथा गोः शृङ्गित्वम्लक्षणं कृतश्चेत्—लक्ष्यभूतगोभिन्नमहिष्यादावतिव्याप्तिः, तत्रापि शृङ्गित्वस्य विद्यमानत्वात्। अव्याप्तिर्नाम—लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम्। लक्ष्यैकदेशे=लक्ष्यतावच्छेदकाश्रयीभूते क्वचिल्लक्ष्ये लक्षणासत्त्वमव्याप्तिरित्यर्थः। यथा गोर्नीलरूपवत्त्वं लक्षणं कृतं चेल्लक्ष्यतावच्छेदकाश्रयीभूतश्वेतगवि अव्याप्तिः, तत्र नीलरूपाभावात्। असम्भवो नाम लक्ष्यमात्रे कुत्रापि लक्षणासत्त्वम्। यथा गोरेकशफवत्त्वम्। गोसामान्यस्य द्विशफवत्त्वेन एकशफवत्त्वस्य कुत्राप्यसत्त्वात्। अतिव्याप्त्यव्याप्त्यसम्भवानां निष्कृष्टलक्षणानि—लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणत्वे सति लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरण्यमतिव्याप्तिः।

अव्याप्तिस्तु लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। असंभवस्तु लक्ष्यतावच्छेदकव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम्॥

न्या०—इस प्रकार पृथिव्यादि (पृथिवी, जल, तेज) तीन का निरूपण करके वायु का निरूपण करते हुए मूल में "रूपरहित" आदि लिखा। अतः "रूपरहितत्वे सति स्पर्शवत्वं" [रूपरहित होता हुआ स्पर्श होने वाला] यह वायु का लक्षण होगा। यहाँ (लक्षण में) "सति" पद में सप्तमी का विशिष्ट अर्थ है। [अतः "रूपरहितत्वविशिष्टस्पर्शवत्व" यह लक्षण का स्वरूप होगा। रूपरहितत्व से विशिष्ट स्पर्शवत्व यह अर्थ हुआ। विशेषण से युक्त जो होगा

वह विशिष्ट होगा। जिस विशेषण से जो युक्त होगा, वह उससे विशिष्ट कहलाएगा यह तात्पर्य हुआ। विशेषण भी विशेष्य में किसी न किसी सम्बन्ध से रहेगा।[1] यहाँ रूपरहितत्व से स्पर्शवत्व सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से विशिष्ट है। अतः रूपरहितत्वसमानाधिकरणस्पर्शवत्व यह लक्षण का स्वरूप होगा। रूपरहितत्व के अधिकरण में रहने वाला स्पर्शवत्व, रूपरहितत्व का समानाधिकरण होगा। समान अधिकरण में समान शब्द का 'एक' अर्थ है। अर्थात् एक अधिकरण में रहने वाली दो वस्तु, परस्पर समानाधिकरण कहलाएगी। इसलिए दोनों का परस्पर सामानाधिकरण्य सम्बन्ध होगा। रूपरहित का अर्थ है रूप के अभाव का अधिकरण। यहाँ प्रतियोगी है रूप, वह रूपत्व धर्म से अवच्छिन्न है। अतः उसमें रहने वाली प्रतियोगिता भी रूपत्व धर्म से अवच्छिन्ना होगी। यही सब सोचकर न्यायबोधिनीकार ने आगे लिखा कि—] सप्तमी के विशिष्टार्थक होने से रूपत्व धर्म से अवच्छिन्ना जो प्रतियोगिता, तत्प्रतियोगिता का जो अभाव [रूपाभाव] उससे सामानाधिकरण्य सम्बन्धसे विशिष्ट जो स्पर्शवत्त्व (स्पर्श), यही वायुके लक्षणका भाव है। [वायु के लक्षण में] जब विशेषणांश नहीं दिया जाएगा, तब स्पर्शवत्व मात्र लक्षण होगा। तब तो पृथिवी, जल, तेज इन तीनों के भी स्पर्शवान् होने से इन तीनों में भी लक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी। अतः उसके वारणके लिए (लक्षणमें) विशेषणांश रखा है। यदि केवल विशेषणांश ही लक्षण में रखा जाय, तो आकाश आदि में भी (उनकेभी रूपरहित होने के कारण) लक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी। उसके वारण के लिए विशेष्यांश रखा गया है। (अलक्ष्य जिसके लिए लक्षण न बनाया गया हो, उस) में लक्षण की सत्ता लक्षण का चला जाना अतिव्याप्ति दोष कहलाता है। जैसे गौका शृङ्गित्व लक्षण किया जाय तो, लक्ष्य (गौ) से भिन्न भैंस आदि (के भी शृङ्गी होने से उस) में भी लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि वहाँ भी शृङ्गित्व की सत्ता है। लक्ष्य (जिसके लिए लक्षण बनाया गया हो उस) के एक देश में

---

१. यह वायु का लक्षण बनता है। अर्थात् स्पर्शवत्व में रूपरहितत्वविशेषण है। इस लिए रूपरहितत्व से स्पर्शवत्व विशिष्ट हुआ।

(लक्षण की) अवृतिता (न रहना) ही अव्याप्ति दोष कहलाता है। जैसे गौ का नीलरूपवत्व (नील रूप) लक्षण किया जाय तो, इसकी लक्ष्यता का अवच्छेदक जो गोत्त्व, उसके आश्रयीभूत श्वेत जो गौ, उसमें अव्याप्ति होगी, क्योंकि वहाँ नीलरूप का अभाव है। (लक्ष्यमात्र में कहीं भी लक्षण की असत्ता (न रहना) असम्भव नामक दोष कहलाता है। जैसे गौं का एकशफवत्व (एकखुर-वाला रहना) लक्षण किया जाय तो सभी गौ के दो खुर होने से एक खुर की किसी भी गौ में सत्ता नहीं है। अतः यह लक्षण किसी भी गौ में सम्भव नही है।

इसके अनन्तर न्याय बोधिनी कार ने अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं असम्भवके निष्कृष्ट (निर्दुष्ट सिद्धान्तभूत) लक्षण का निरूपण किया है।

(१) जहाँ अतिव्याप्ति के लक्षण का "लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणत्वे सति लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरव्यम्" यह स्वरूप दिखलाया है। अर्थात्

लक्ष्यता के अवच्छेदक के [अधिकरण में रहने वाला (लक्षण) लक्ष्यता-वच्छेदक का समानाधिकरण कहलाएगा तथा उसमें रहनेवाला घर्म ही समा-नाधिकरणत्व या सामानाधिकरण्य कहलाएगा, उस] समानाधिकरणत्व के अधिकरण (लक्षण) में रहनेवाला लक्ष्यता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न जो प्रतियोगिता, उस प्रतियोगिता वाले भेद का जो सामानाधिकरण्य (भेद के अधिकरण में रहने वाला भेदका समानाधिकरण जो लक्षण, उसमें रहने वाला जो धर्म) वही अतिव्याप्ति है। (अर्थात्: लक्षतावच्छेदक एवं लक्ष्यता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न जो प्रतियोगिता, उससे युक्त जो भेद, उसके अधिकरण में रहने वाला लक्षण अतिव्याप्त कहलाएगा, तथा उसमें रहनेवाला धर्म ही तादृश प्रतियोगिताकभेद का सामानाधिकरण्य धर्म होगा, वही अतिव्याप्ति का लक्षण है, यही सबका अभिप्राय है।

(२) लक्ष्यता के अवच्छेदक का समानाधिकरण (अर्थात् लक्ष्यतावच्छेदक के अधिकरण में रहनेवाला) जो अत्यन्ताभाव, उसका जो प्रतियोगित्व (उस

अभाव के प्रतियोगी में रहनेवाला जो धर्म) वही लक्षण की अव्याप्ति है (अर्थात् अव्याप्ति लक्षण है)

(३) लक्ष्यता का अवच्छेदक जो धर्म, उसका व्यापकीभूत (व्यापक) जो अभाव, उसका जो प्रतियोगित्व (उस व्यापकीभूत अभाव के प्रतियोगी में रहने वाला जो धर्म) वही लक्षण का असम्भव (दोष) है (अर्थात् असम्भव का लक्षण है)।

[ये तीनों दोष लक्षण के हैं। इनकी चर्चा इसलिए की गयी, कि इनसे युक्त कोई भी लक्षण, लक्ष्यका ठीक लक्षण नहीं हो सकता। अर्थात् इन तीनों दोषों से सर्वथा शून्य ही लक्षण, किसी लक्ष्य का निर्दुष्ट लक्षण बन सकता है।]

शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं, विभु नित्यञ्च।

त०—शब्द गुण है जिसका, उस द्रव्यको आकाश कहते हैं। वह एक नित्य एवं विभु है।

न्यायबोधिनी

आकाशं लक्षयति—शब्दगुणकमिति। गुणपदमाकाशे शब्द एव विशेषगुण इति द्योतनाय नत्वतिव्याप्तिवारणाय, समवायेन शब्दवत्त्वमात्रस्य सम्यक्त्वात्।

तच्चैकमिति। अनेकत्वे मानाभावादिति भावः। विभ्विति। सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्। मूर्तत्वं च क्रियावत्त्वम्। पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि मूर्तानि। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेतिपञ्चकं भूतपदवाच्यम्। भूतत्वं नाम बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्॥

न्या०—आकाश का निरूपण करते हुए 'शब्द गुणकं' ऐसा मूल में लिखा है। (मूलोक्त) आकाश (के लक्षण) में "गुण" पद का ग्रहण, "आकाश में शब्द ही विशेष गुण है" इसे द्योतित करने के लिए किया गया है। अतिव्याप्ति के वारण के लिए नहीं है। क्योंकि समवायेन (समवाय सम्बन्ध से) शब्दवत्व ही आकाश का लक्षण ठीक है।

"वह एक है" यह इसलिए ग्रन्थकार ने कहा, कि उसके अनेक होने में कोई प्रमाण नहीं है। 'विभु है' यह जो कहा, उसका अर्थ यह है कि सभी मूर्त द्रव्यों के संयोगी में रहने वाला धर्म ही विभुत्व है। क्रियावत्त्व (क्रिया) ही मूर्तत्व है। पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन ये मूर्त द्रव्य हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पाँच भूतपद के वाच्य (अर्थ) हैं। बहिरिन्द्रिय से ग्राह्य विशेष गुणवत्त्व (गुण) भूतत्व है।

अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। सचैको विभुर्नित्यश्च।

त०—अतीत आदि (भूत, भविष्य आदि) के व्यवहार का जो हेतु, उसे काल कहते हैं। वह भी एक, विभु एवं नित्य है।

न्यायबोधिनी

कालं लक्षयति—अतीतेति। व्यवहारहेतुत्वस्य लक्षणत्वे घट इति व्यवहार-हेतुभूतघटादावतिव्याप्तिः। तद्वारणाय अतीतादीति विशेषणोपादानम्।

न्या०—कालका लक्षण करते हुए मूल में 'अतीतादि०' लिखा। केवल व्यवहार हेतुत्व ही (काल का) लक्षण रखा जाय तो 'यह घट है' इत्यादि व्यवहार के हेतु भूत घट आदि में भी अतिव्याप्ति होगी। उसके वारण के अतीतादि यह विशेषणांश दिया।

प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। सा चैका नित्या विभ्वी च॥

त०—प्राची (पूर्व) आदि के व्यवहार के हेतु को दिक् (दिशा) कहते हैं। वह भी एक, विभु एवं नित्य है।

न्यायबोधिनी

दिशो लक्षणमाह—प्राच्येति। उदयाचलसन्निहिता या दिक् सा प्राची। अस्ताचलसन्निहिता या दिक् सा प्रतीची। मेरोः संन्निहिता या दिक् सोदीची। मेरोर्व्यवहिता या दिक् साऽवाची।

न्या०—दिशा के लक्षण का निरूपण करते हुए मूल में प्राच्यादि लिखा। उदयाचल के तरफ की दिशा प्राची कहलाती है। अस्ताचल के निकट (की

तरफ) प्रतीची (पश्चिम) है। मेरू के सन्निहित (मेरू के तरफ की) दिशा उदीची (उत्तर) एवं उससे व्यवहिता अर्थात् विपरीत जो दिशा अवाची वह (दक्षिण) कहलाती है।

ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः। जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च॥

त०—ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहते हैं वह दो प्रकार का होता है, जीवात्मा और परमात्मा। इन दोनों में परमात्मा-ईश्वर (सबका स्वामी) सर्वज्ञ एवं एक हैं। तथा जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न होता हैं। वह भी विभु एवं नित्य है।

न्यायबोधिनी

आत्मानं निरूपयति—ज्ञानाधिकरणमिति। अधिकरणपदं समवायेन ज्ञानाश्रयत्वलाभार्थम्।

न्या०—आत्मा नामक द्रव्य का निरूपण करते हुए ज्ञानाधिकरणम् लिखा। यहाँ अधिकरण पद समवाय (सम्बन्ध) से ज्ञानके आश्रयत्व के लाभ के लिए है। [अर्थात् "समवायेन ज्ञानाश्रय आत्मा" ऐसा समझना चाहिए। समवाय सम्बन्ध से जो ज्ञान का आश्रय है, वही आत्मा है। इस प्रकार "समवायेन ज्ञानाश्रयत्वम्" यह आत्मा की लक्षण जानना चाहिए।]

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यञ्च।

त०—सुखादि के उपलब्धि (प्राप्ति) का साधन जो इन्द्रिय, उसे मन कहते है। वह प्रत्यात्मनियत (प्रत्येक आत्मा के साथ नियम अर्थात् निश्चित रूप से) रहने के कारण अनन्त है, तथा परमाणुरूप एवं नित्य है।

न्यायबोधिनी

मनो निरूपयति—सुखादीति । उपलब्धिर्नाम साक्षात्कारः । तथा च सुख-दुःखादिसाक्षात्कारकारणत्वे सति इन्द्रियत्वम् मनसो लक्षणम् । इन्द्रियत्वमात्रोक्तौ चक्षुरादावतिव्याप्तिरतः सुखादिसाक्षात्कारकारणत्वविशेषणम् । विशेष्यानुपादाने आत्मन्यतिव्याप्तिः आत्मनः सुखादिकं प्रति समवायिकारणत्वात् । अत इन्द्रियत्वरूपविशेष्योपादानम् ।

रूपं लक्षयति—चक्षुरिति । चक्षुर्मात्रग्राह्यत्वविशिष्टगुणत्वं रूपस्य लक्षणम् विशेष्यमात्रोपादाने रसादावतिव्याप्तिः, अतश्चक्षुर्मात्रग्राह्यत्वविशेषणम् । तावन्मात्रोपादाने रूपत्वेऽतिव्याप्तिः । यो गुणो यदिन्द्रियग्राह्यस्तन्निष्ठा जाति-स्तदिन्द्रियग्राह्येति नियमात्, तद्वारणाय विशेष्योपादानम् ।

न्या०—मन का निरूपण करते हुए सुखादि लिखा । मूल में आए हुए उपलब्धि शब्द का साक्षात्कार अर्थ है । इस प्रकार सुख-दुख आदि के साक्षात्कार का जो कारण, उसमें रहने वाला जो इन्द्रियत्व यही मन का लक्षण हुआ । केवल 'इन्द्रियत्व' ही मन का लक्षण किया जाय तो चक्षु आदि इन्द्रियों में अतिव्याप्ति होगी इसलिए "सुखादि साक्षात्कारकारणत्व" यह विशेषणांश भी लक्षण में दिया गया । विशेष्यांश (इन्द्रियत्व) का यदि लक्षण में ग्रहण नहीं करेंगे, तो आत्मा में भी मन के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि सुखादि के प्रति आत्माका समवायिकारणत्व सिद्ध है [क्योंकि सुखादि के प्रति आत्मा समवायि कारण है] अतः इन्द्रियत्व रूप विशेष्यांश भी लक्षण में ग्रहण किया गया है ।

चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम् । तच्च शुक्ल-नील-पीत-रक्त-हरित-कपिश-चित्रभेदात् सप्तविधम् । पृथिवीजलतेजोवृत्ति । तत्र पृथिव्यां सप्तविधम् । अभास्वरशुक्लं जले । भास्वरशुक्लं तेजसि ।

त०—केवल चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य (ग्रहण किया जाने वाला) जो गुण, उसे रूप कहते हैं । वह शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र के

भेद से सात प्रकार का होता है। (वह) पृथ्वी, जल और तेज में रहता है। उन सातों रूपों में पृथिवी में सातों पाए जाते हैं। अभास्वर शुक्ल (केवल) जल में एवं भास्वर (चमकदार) शुक्ल तेज में रहता है।

न्यायबोधिनी

चक्षुर्मात्रग्राह्यत्वं नाम—चक्षुर्भिन्नेन्द्रियाग्राह्यत्वे सति चक्षुर्ग्राह्यत्वम्। मात्रपदानुपादाने संख्यादिसामान्यगुणेऽतिव्याप्तिः चक्षुर्ग्राह्यत्वविशिष्टगुणत्वस्य तत्रापि सत्त्वात्, अतस्तद्वारणाय मात्रपदम्। सङ्ख्यादेश्चक्षुर्भिन्नत्वगिन्द्रिय-ग्राह्यत्वात् चक्षुर्मात्रग्राह्यत्वं नास्ति। अतीन्द्रियगुरुत्वादावतिव्याप्तिवारणाय—चक्षुर्ग्राह्येति। अत्र लक्षणे ग्राह्यत्वं नाम प्रत्यक्षविषयत्वम्। अग्राह्यत्वं नाम तदविषयत्वम्। तथा च चक्षुर्भिन्नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वे सति चक्षुर्जन्य-प्रत्यक्षविषयत्वमिति फलितोऽर्थः। ननु प्रभाघटसंयोगे रूपलक्षणस्यातिव्याप्ति-स्तस्य चक्षुर्मात्रग्राह्यगुणत्वादिति चेन्न, गुणपदस्य विशेषगुणपरत्वात्। न चैवं विशेषगुणत्वघटितलक्षणे सङ्ख्यादावतिव्याप्त्यभावान्मात्रपदवैयर्थ्यमिति वाच्यम्। जलमात्रवृत्तिसांसिद्धिकद्रवत्वादावतिव्याप्तिवारणाय तदुपादानात्।

अथवा चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमद्गुणत्वस्य लक्षणत्वान्न प्रभाघटसंयोगादाव-तिव्याप्तिः, संयोगत्वजातेश्चक्षुर्मात्रग्राह्यत्वाभावात्। घटपटसंयोगस्य त्वगिन्द्रिय-ग्राह्यत्वात् तद्गतजातेरपि त्वगिन्द्रियग्राह्यत्वात्। यो गुणो यदिन्द्रियग्राह्यस्त-न्निष्ठजातेरपि तदिन्द्रियग्राह्यत्वात्। अत्र जातिघटितलक्षणे गुणत्वानुपादाने चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमति सुवर्णादावतिव्याप्तिरतस्तद्वारणाय तदुपादानम्। एवं रसादिलक्षणे विशेषणानुपादाने लक्ष्यभिन्नगुणादावतिव्याप्तिः। विशेष्यानुपादाने लक्ष्यमात्रवृत्तिरसत्वगन्धत्वादावतिव्याप्तिः, अतो विशेषणविशेष्ययोरुभयो-रुपादानम्।

न्या०—"चक्षु (नेत्र) इन्द्रिय से जो भिन्न इन्द्रिय, उससे अग्राह्य में रहने वाला जो अग्राह्यत्व, उसके अधिकरण में रहने वाला जो चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य में रहने वाला चक्षुर्ग्राह्यत्व", यही चक्षुर्मात्रग्राह्यत्व का अभिप्राय है। [अर्थात् नेत्र इन्द्रिय से जो भिन्न इन्द्रिय, उससे अग्राह्य तथा नेत्र इन्द्रिय से ग्राह्य। इस प्रकार 'रूप' नेत्र इन्द्रिय से तो ग्रहण किया जाता है, परन्तु नेत्र से भिन्न

किसी भी इन्द्रिय से उसका ग्रहण नहीं होता है। अतः चक्षुर्मात्रग्राह्यहुआ।] लक्षण में यदि मात्रपद नहीं रखेंगे तो संख्या आदि सामान्य गुण में भी (रूप के लक्षण की) अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि चक्षुर्ग्राह्यत्व से (सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से) विशिष्ट गुणत्व संख्यादिक सामान्य गुणों में भी है। अर्थात् नेत्र से संख्या आदि गुणों का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार संख्यादि में समान (एक) ही अधिकरण में चक्षुग्राह्यत्व एवं गुणत्व दोनों हैं। अतः इस आए हुए अतिव्याप्तिदोष के वारण के लिए मात्र पद दिया हुआ है। संख्या आदि गुण के चक्षु से भिन्न जो त्वगिन्द्रिय, उससे भी ग्राह्य होने से, उन संख्या आदि में मात्र चक्षुरिन्द्रिय की ग्राह्यता नहीं है। अतीन्द्रिय (इन्द्रिय से गृहीत न होने वाले) गुरूत्व आदिमें रूपके लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए चक्षुर्ग्राह्य ऐसा लिखा। उपर्युक्त रूप के लक्षण में आए हुए ग्राह्यत्व का अर्थ प्रत्यक्षविषयत्व (प्रत्यक्षविषय में रहने वाले धर्म) से है; तथा अग्राह्यत्व का अर्थ तदविषयत्व है (प्रत्यक्ष का विषय न होना)। इस प्रकार "चक्षुर्भिन्नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वें सति चक्षुर्जन्यप्रत्यक्षविषयत्वम्" यह लक्षण (का स्वरूप) फलित हुआ। ('चक्षुरिन्द्रिय से भिन्न इन्द्रिय से जन्य जो प्रत्यक्ष उसका अविषय होते हुए, चक्षुरिन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष का विषय होना, यह भाव हुआ।)

यदि यह कहा जाय, कि प्रभा एवं घट के संयोग के, मात्र चक्षु से ग्राह्य गुण होने से 'चक्षुर्मात्रग्राह्यत्व रूप' रूप के लक्षण की प्रभा एवं घट के संयोग में भी अतिव्याप्ति होगी, तो ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ गुण पद विशेष गुण परक है। (यहाँ विशेष गुण का अभिप्राय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सांसिद्धिक द्रव; बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा आदि से है, जिनमें संयोग नहीं आता। अतः वह विशेष गुण नहीं है यही इसका अभिप्राय है।) यदि यह कहा जाय कि तब तो संख्या आदि में (रूप के लक्षण की) अतिव्याप्ति के अभाव के वारण के लिए दिया हुआ 'मात्र' पद व्यर्थ हो जाएगा क्योंकि वह भी विशेष गुण नहीं है; अतः पूर्वोक्त रीति से संख्या में अतिव्याप्ति होगी ही नहीं तो ठीक नहीं है। क्योंकि जलमात्रवृत्ति (केवल जल में रहने वाले) सांसिद्धिकद्रवत्व आदि में

(रूप के लक्षण की) अतिव्याप्ति के वारण के लिए 'मात्र' पद का ग्रहण लक्षण में सार्थक ही है। अथवा चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमदगुणत्व [केवल चक्षु से ग्राह्य जो जाति, उसका अधिकरण जो गुण; तत्त्व (उसमें रहने वाला धर्म) यही रूप का लक्षण स्वीकार कर लेने से प्रभा एवं घटादि के संयोग में अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि (संयोग में रहने वाली) संयोगत्व जाति का मात्र चक्षुरिन्द्रिय से ही ग्रहण न होने से, उसमें चक्षुर्मात्रग्राह्यत्व का अभाव रहता है। घट-पट के संयोग के त्वगिन्द्रियग्राह्यत्व के होने से तद्गत जाति की भी त्वगिन्द्रियग्राह्यता ही सिद्ध होगी। क्योंकि जो गुण जिस इन्द्रिय से गृहीत होता है, उसमें रहने वाली जाति का भी उसी इन्द्रिय से ग्रहण होता है। इस रूप के लक्षण में यदि 'गुणत्व' रूपविशेष्यांश का ग्रहण न किया जायगा तो ['चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्त्व' यही लक्षण होगा। तब] केवल चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य जो जाति, उसके अधिकरण जो सुवर्णादि, उनमें भी (रूप के लक्षण की) अतिव्याप्ति होगी। अतः उसके वारण के लिए 'गुणत्व' रूप विशेष्यांश का लक्षण में ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार रसादि के लक्षण में भी यदि विशेषणांश का ग्रहण नहीं करेंगे, तो लक्ष्य (रसादि) से भिन्न जो गुण, उनमें भी अतिव्याप्ति होगी। विशेष्यांश का ग्रहण न करने पर लक्ष्यमात्रवृत्तित्व (केवल लक्ष्य रसादि में रहने वाले) रसत्व गन्धत्व आदि में भी अतिव्याप्ति होगी। अतः विशेषणांश एवं विशेष्यांश दोनों का लक्षण में ग्रहण किया गया है।

रसनग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवणकटुकषाय-तिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां षड्विधः। जले मधुर एव।

त०—रसना से ग्राह्य (ग्रहण किया जाने वाला) जो गुण, उसे रस कहते हैं। वह मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त के भेद से छः प्रकार का होता है। पृथिवी और जल में रहता है। पृथिवी में छहों रस रहते हैं, पर जल में केवल मधुर ही रहता है।

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स च द्विविधः। सुरभिरसुरभिश्च। पृथिवीमात्रवृत्तिः।

त०—घ्राण से ग्राह्य गुण, गन्ध है। वह दो प्रकार का होता है—सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध)। ये दोनों प्रकार के गन्ध, मात्र पृथिवी में रहते हैं।

त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः, शीतोष्णाऽनुष्णाऽशीतभेदात्। पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले। उष्णस्तेजसि। अनुष्णाऽशीतः पृथिवीवाय्वोः।

त०—मात्र त्वक् इन्द्रिय से ग्राह्य गुण स्पर्श है। वह तीन प्रकार का होता है—शीत, उष्ण एवं अनुष्णाशीत (न उष्ण और न शीत)। स्पर्श, पृथिवी, जल, तेज एवं वायु वृत्ति है (अर्थात् इनमें रहता है)। उनमें शीत स्पर्श जल में, उष्ण तेज में तथा पृथिवी और वायु में अनुष्णाशीत रहता है।

न्यायबोधिनी

स्पर्शं लक्षयति—त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्य इति। अत्रापि मात्रपदं संख्यादिसामान्यगुणादावतिव्याप्तिवारणाय। अन्यविशेषणकृत्यं पूर्ववद्बोध्यम्। ग्राह्यत्वपदार्थोऽपि पूर्ववदेव प्रत्यक्षविषयत्वरूप एव बोध्यः।

न्या०—स्पर्श (गुण) का निरुपण करते हुए "त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्य" इत्यादि लिखा। यहाँ पर भी 'मात्र' पद संख्या आदि सामान्य गुणों में (स्पर्श के लक्षण की) अतिव्याप्ति के वारण के लिए ग्रहण किया गया है। विशेषणांश का प्रयोजन पूर्व की तरह ही समझ लेना चाहिए तथा ग्राह्यत्व पदार्थ भी पूर्व की तरह ही 'प्रत्यक्षविषयत्व' रूप समझना चाहिए। अर्थात् त्वगिन्द्रिय से भिन्न इन्द्रिय के द्वारा जिसका प्रत्यक्ष न किया जा सके तथा त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष किया जा सके, वह गुण ही स्पर्श है।

रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यञ्च। अन्यत्रापाकजं नित्यमनित्यञ्च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यम्।

त०—रूप आदि (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) चार गुण जो पृथिवी में रहते हैं, वे पाकज (पाक के द्वारा उत्पन्न होने वाला) और अनित्य होते हैं, तथा अन्यत्र (जल तेज एवं वायु में) अपाकज एवं नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार के होते हैं। नित्य जलादिक में रहने वाले नित्य तथा अनित्य जलादिक में रहने वाले अनित्य होते हैं।

न्यायबोधिनी

रूपादिचतुष्टयमिति। एतत्तत्त्वनिर्णयश्चेत्थम्—पाको नाम विजातीयतेजःसंयोगः। स च नानाजातीयरूपजनको विजातीयः तेजःसंयोगः। तदपेक्षया रसजनको विजातीयः। एवं गन्धजनकोऽपि ततो विजातीय एव। एवं स्पर्शजनकोऽपि तथैव। एवं प्रकारेण भिन्नभिन्नजातीयाः पाकाः कार्यवैलक्षण्येन कल्पनीयाः।

यथा तृणपुञ्जनिक्षिप्त आम्रादौ उष्मलक्षणविजातीयतेजःसंयोगात् पूर्वहरितरूपनाशेन रूपान्तरस्य पीतादेरुत्पत्तिर्नतु रसादेरुत्पत्तिः। पूर्वरसस्याम्लस्यैवानुभवात्। क्वचित् पूर्वहरितरूपसत्वेऽपि रसपरावृत्तिर्दृश्यते। विजातीयतेजः संयोगरूपपाकवशात् पूर्वतनाम्लरसनाशेन मधुररसस्यानुभवात्। तस्माद्रूपजनकापेक्षया रसजनको विलक्षण एवाङ्गीकार्यः।

एवं गन्धजनको विलक्षण एव। रूपरसयोरपरावृत्तावपि पूर्वगन्धनाशेऽपि विजातीयपाकवशात् सुरभिगन्धोपलब्धेः। एवं स्पर्शजनकः, पाकवशात् कठिनस्पर्शनाशेन मृदुस्पर्शानुभवात्। तस्माद्रूपादिजनका विजातीया एव पाकाः। अत एव पार्थिवपरमाणूनामेकजातीयत्वेऽपि पाकमहिम्ना विजातीयद्रव्यान्तरानुभवः। यथा गोभुक्ततृणादीनामापरमाण्वन्तभङ्गे तृणारम्भकपरमाणुषु विजातीयतेजःसंयोगात् पूर्वरूपादिचतुष्टयनाशे तदनन्तरं दुग्धे यादृशं रूपादिकं वर्तते तादृशरूपरसगन्धस्पर्शजनकास्तेजःसंयोगाः जायन्ते। तदुत्तरं तादृशरूपरसादय उत्पद्यन्ते। तादृशरूपरसादिविशिष्टपरमाणुभिर्दुग्धद्वयणुकमारभ्यते, ततस्त्र्यणुकादिक्रमेण महादुग्धारम्भः। एवं दुग्धारम्भकैः परमाणुभिरेव दध्यारभ्यते। एवं पाकमहिम्ना दध्यारम्भकैरेव परमाणुभिर्नवनीतादिकमिति दिक्।

न्या०—रूपादिकों के पृथिवी में पाकजत्व का निर्णय निम्न प्रकार से करना चाहिए—विजातीय (विलक्षण) तेज के संयोग को पाक कहते हैं। वह पाक नानाजातीय रूपों का जनक तेजः संयोग विजातीय (भिन्न, भिन्न) ही होता है। रूप जनक तेजः संयोग की अपेक्षा रस का जनक तेजः संयोग विलक्षण (भिन्न ही प्रकार का) होता है। इसी प्रकार गन्ध का जनक भी तेजः संयोग, उन दोनों (रुप-रसों) के जनक तेजः संयोग से भिन्न ही प्रकार का होता है। वैसे ही स्पर्श जनक भी तेजः संयोग कुछ भिन्न ही प्रकार का होता है। इसी प्रकार भिन्न, भिन्न जातीय विलक्षण पाकों की कल्पना, कार्य के वैलक्षण्य से कर लेनी चाहिए।

जैसे तृणपुञ्ज (खर-पतवार) में रखे हुए आम आदि में उष्मरूप विजातीय तेजः संयोग से पूर्व हरितरूप के नाश के बाद रूपान्तर पीत आदि की ही उत्पत्ति होती है, रसादिकी नहीं, क्योंकि रूप के परिवर्तित होने पर भी पूर्व के रस का ही अनुभव होता है। कहीं पर पूर्व के हरित रूप के वैसे ही रहने पर भी, रस का परिवर्तन देखा गया है। विजातीय तेजः संयोगरूप पाक के कारण पूर्वतन अम्लरस के नाश होने से मधुर रस का अनुभव होता है। अतः रूप के जनक की अपेक्षा रस का जनक पाक विलक्षण ही स्वीकार करना पड़ेगा।

इसी प्रकार गन्धजनक भी (पाक) विलक्षण ही होगा। क्योंकि रूप एवं रस के परिवर्तन न होने पर भी विजातीय पाकवश पूर्वगन्ध के नाश एवं सुगन्धि की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार स्पर्श का जनक पाक भी भिन्न प्रकार का ही होता है, क्योंकि पाकवश कठिन स्पर्श का अभाव एवं मृदु स्पर्श का अनुभव होता है। अतः रूपादि के जनक पाक विजातीय (भिन्न-भिन्न प्रकार के ही) होते हैं। इसलिए पार्थिव परमाणुओं के एक जातीय होने पर भी पाक की महिमा से विजातीय द्रव्यान्तरों का ही अनुभव होता है। जैसे गौ के द्वारा खाए हुए तृणादिकों के परमाणु पर्यन्त नाश के अनन्तर तृण के आरम्भक परमाणुओं में विजातीय तेजः संयोग से पूर्व के रूप आदि चतुष्टय (रूप,रस,गन्ध, स्पर्श) के नाश होने के अनन्तर दुग्ध में जैसे रूप आदि है; वैसे ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि के जनक विजातीय तेजः संयोग होते हैं। उसके बाद उसी (दुग्ध) की

तरह रूप, रस आदि उत्पन्न होते हैं। वैसे ही रूप, रस आदि से विशिष्ट परमाणुओं से दुग्ध के आरम्भक द्वयणुकों की उत्पत्ति होती है। उसके बाद द्वयणुक आदि के क्रम से महादुग्ध की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार दुग्धारम्भक परमाणुओं से क्रमशः दही की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार पाक की महिमा के कारण दही के आरम्भक परमाणुओं से ही क्रमशः नवनीत आदि की उपलब्धि होती है, ऐसा समझना चाहिए।

एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या। सा नवद्रव्यवृत्तिः। एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यञ्च। नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकन्तु सर्वत्रानित्यमेव।

त०–एकत्व आदि के व्यवहार का हेतु ही संख्या है। वह नव द्रव्यों में रहती है। वह एकत्व आदि से लेकर परार्ध पर्यन्त भेदवाली है। एकत्व संख्या नित्य एवं अनित्य दो प्रकार की होती है। नित्य द्रव्यो में रहनेवाली नित्य एवं अनित्य द्रव्यों में रहनेवाली अनित्य होती है। द्वित्वादिक संख्या तो अनित्य ही होती है।

[न्यायवैशेषिक दर्शन के अनुसार द्वित्वादि की उत्पत्ति एवं विनाश, अपेक्षा तथा उपेक्षा बुद्धि के कारण होते हैं। द्वित्व, द्वित्वादिज्ञान तथा उनके नाश की प्रक्रिया यत्किञ्चित् क्षण स्थायी होने के कारण द्वित्वादि सर्वथा अनित्य ही सिद्ध हो जाते हैं]

मानव्यवहारासाधारणं कारणं परिमाणम्। नवद्रव्यवृत्ति। तच्चतुर्विधम्। अणु, महद्, दीर्घं, ह्रस्वं चेति।

त०–मान (माप तौल) के व्यवहार के असाधारण कारण को परिमाण कहते हैं। वह भी नवद्रव्यों में रहता है वह चार प्रकार का होता है। अणु, महत् दीर्घ एवं ह्रस्व।

पृथग्व्यवहारासाधारणकारणं पृथक्त्वम्। सर्वद्रव्यवृत्ति। संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः सर्वद्रव्यवृत्तिः।

त०—(यह वस्तु इससे) 'पृथक् है' इस व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहते हैं। पृथक्त्व भी सर्वद्रव्य वृत्ति है।

(यह वस्तु इससे) "संयुक्त है" इस व्यवहार के असाधारण कारण को संयोग कहते हैं। यह भी सभी द्रव्यों में रहता है।

संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

त०—संयोग के नाशक गुण को विभाग कहते हैं। यह भी सर्वद्रव्य-वृत्ति है।

न्यायबोधिनी

विभागं लक्षयति—संयोगेति। संयोगनाशकत्वविशिष्टगुणत्वं विभागस्य लक्षणम्। विशेषणमात्रोपादाने क्रियाया अपि संयोगनाशकत्वात् तत्रातिव्याप्ति-स्तद्वारणाय गुणत्वमितिविशेष्योपादानम्।

न्या०—विभाग का निरूपण करते हुए "संयोगनाशकः" ऐसा मूल में लिखा। इस प्रकार "संयोगनाशकत्वविशिष्टगुणत्व" [संयोग नाशक के अधिकरण में रहने वाला गुणत्व। अर्थात् जो संयोग का नाशक होता हुआ गुण भी हो] यह विभाग का लक्षण हुआ। विभाग के लक्षण में यदि मात्र विशेषणांश रखा जाय, तो क्रिया के द्वारा भी संयोग का नाशक होने के कारण क्रिया में भी विभाग के लक्षण को अतिव्याप्ति होगी। अतः उसके वारण के लिए 'गुणत्व' इस विशेष्यांश का भी लक्षण में उपादान किया गया है।

परापरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे। पृथिव्यादि-चतुष्टयमनोवृत्तिनी। ते च द्विविधे दिक्कृते कालकृते चेति। दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्। समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्। कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्।

त०—पर और अपर के व्यवहार के असाधारण कारण को परत्व और अपरत्व कहते हैं। पृथिवी आदि चार तथा मन, इन सबमें ये दोनों रहते हैं"। ये दोनों परत्व और अपरत्व दिक्कृत और कालकृत के भेद से दो, दो प्रकार के

होते हैं। दिक्कृत (दिशा के कारण होने वाला) परत्व (निकटस्थ वस्तु की अपेक्षा) दूरस्थ वस्तु में होता है। इसी प्रकार दिक्कृत अपरत्व (दूरस्थ वस्तु की अपेक्षा) निकटस्थ वस्तु में होता है। कालकृत परत्व कनिष्ठ की अपेक्षा ज्येष्ठ में होता है, तथा कालकृत अपरत्व ज्येष्ठ की अपेक्षा कनिष्ठ में होता है।

आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वं पृथिवीजलवृत्ति ॥

त०—आद्य (प्रथम) पतन के असमवायिकारण को गुरुत्व कहते हैं। गुरुत्व जल तथा पृथिवी में रहता है।

न्यायबोधिनी

गुरुत्वं लक्षयति—आद्येति। द्वितीयपतनक्रियायां वेगस्यासमवायिकारणत्वात्तत्रातिव्याप्तिवारणायातद्येति। उत्तरत्र स्यन्दने आद्यविशेषणमपिपूर्ववदेवयोज्यम्।

न्या०—गुरुत्व का निरूपण करते हुए आद्यपतन इत्यादि मूल में लिखा हैं। [प्रारम्भिक पतन के ठीक बाद शीघ्र ही जो पतन होता है, उसे द्वितीय पतन कहा है। उस द्वितीय पतन में प्रथम पतन के कारण जायमान वस्तु में रहने वाला वेग ही असमवायि कारण होता है। प्रारम्भिक पतन गुरूत्व के कारण ही होता है, क्योंकि यदि वस्तु में गुरूत्व न हो, तो उसके पतन का प्रारम्भ ही नहीं होता। अतः] द्वितीय जो पतन क्रिया उसमें वेग के असमवायिकारण होने से, वेग में गुरूत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसीलिए लक्षण में 'आद्य' पद रखा है।

इसी प्रकार द्रवत्व के लक्षण में भी ''आद्य'' इस विशेषणांश की योजना कर लेनी चाहिए।

स्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्। पृथिव्यप्तेजोवृत्ति। तद्द्विविधम्, सांसिद्धिकं, नैमित्तिकञ्च। सांसिद्धिकं जले। नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः। पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजं द्रव्यत्वम्। तेजसि सुवर्णादौ।

त०—आद्य (प्रारम्भिक) स्यन्दन (चूना या टपकना) के असमवायि-कारण को द्रवत्व कहते हैं। यह द्रवत्व पृथिवी, जल और तेज इन द्रव्यों में रहता है। यह (द्रवत्व) दो प्रकार का होता है—सांसिद्धिक और नैमित्तिक। सांसिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्व जल में रहता है। नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी और तेज में होता है। घृत आदि पृथिवी में अग्निसंयोग रूप निमित्त के कारण द्रवत्व होता है। (उसी प्रकार) सुवर्ण आदि तेज में अग्निसंयोगरूप निमित्त के कारण द्रवत्व होता है।

चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः। जलमात्रवृत्तिः।

त०—चूर्ण आदि के पिण्डीभाव (एक में सटकर पिण्ड बनने) के कारण को स्नेह कहते हैं। यह केवल जल में (पाया जाता) है।

न्यायबोधिनी

स्नेहं लक्षयति—चूर्णादीति चूर्णादिपिण्डीभावहेतुत्वे सति गुणत्वं स्नेहस्य लक्षणम्। पिण्डीभावो नाम—चूर्णादेर्धारणाकर्षणहेतुभूतो विलक्षणः संयोगः। तादृश संयोगे स्नेहस्यैवासाधारणकारणत्वं न तु जलादिगतद्रवत्वस्य, तथा सति द्रुतसुवर्णादिसंयोगेन चूर्णादेः पिन्डीभावापत्तेरतः स्नेह एवासाधारणं कारणम्। विशेषणमात्रोपादाने कालादावतिव्याप्तिरतस्तद्वारणाय विशेष्योपादानम्। वस्तुतस्तु द्रुतजलसंयोगस्यैव पिण्डीभावहेतुत्वं, स्नेहस्य हेतुत्वे मानाभावात्। जले द्रुतत्वविशेषणात् करकादिव्यावृत्तिः।

न्या०—स्नेह के निरूपण के लिए 'चूर्णादि०, यह सब मूल में लिखा। उसके अनुसार "चूर्णादिपिण्डीभावहेतुत्वे सति गुणत्व" स्नेह का लक्षण होगा। ["चूर्ण आदि के पिण्डीभाव के हेतुभूतत्व के अधिकरण में रहने वाला गुणत्व" यह उसका अभिप्राय है। अर्थात् चूर्ण आदि के पिण्डीभाव का हेतु होते हुए जो गुण भी हो, उसे स्नेह कहते है।] चूर्ण आदि के धारण आकर्षण के हेतुभूत विलक्षण संयोग को ही पिण्डीभाव कहते हैं। उस विलक्षण संयोग के प्रति स्नेह का ही असमवायि कारणत्व है, जलादि में रहने वाले द्रवत्व का नहीं। क्योंकि द्रवत्व को ही यदि पिण्डीभाव में असाधारण कारण मान लिया

जाय, तो द्रुत (पिघले हुए) सुवर्ण आदि के संयोग से भी चूर्ण आदि के पिण्डीभाव में स्नेह ही असाधारण कारण है। यदि स्नेह के लक्षण में मात्र विशेषणांश ही रखें, तो लक्षण की काल आदि में भी अतिव्याप्ति होगी। अतः उसके वारण के लिए विशेष्यांश 'गुणत्व' भी लक्षण में रखा गया है। वस्तुतः द्रुत जलके संयोग की ही पिण्डीभाव के प्रति हेतुता है। स्नेह के (पिण्डी भाव के) हेतु होने में प्रमाण का अभाव है। जल में द्रुतत्व विशेषण देने से करकादि (रूप जल के संयोग के पिण्डीभाव के प्रति हेतुता) की व्यावृत्ति भी हो जाती है।

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः। ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः।

त०—श्रोत्र इन्द्रिय से ग्राह्य जो गुण, उसे शब्द कहते हैं। वह केवल आकाश में रहता है। वह दो प्रकार का होता है—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक उन दोनों में ध्वन्यात्मकशब्द भेरी आदि (वाद्यों) में होंता है, तथा वर्णात्मक शब्द संस्कृत आदि भाषा के रूप में है।

न्यायबोधिनी

शब्दं लक्षयति—श्रोत्रेति। शब्दत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय 'गुण, इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय—'श्रोत्रेति। स त्रिविधः—संयोगजो, विभागजः, शब्दजश्चेति। यथा भेरीदण्डसंयोगजो झाङ्कारादिशब्दः, हस्ताभिघातसंयोगजन्यो मृदङ्गादिशब्दः। वंशे पाट्यमाने दलद्वयविभागजश्चटचचटाशब्दः। शब्दोत्पत्तिदेशमारभ्य श्रोत्रदेशपर्यन्तम् वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा निमित्तपवनेन शब्दधारा जायन्ते। तत्र उत्तरोत्तरशब्दे पूर्वपूर्वशब्दः कारणम्।

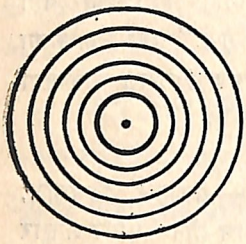
न्या०—शब्दका निरूपण करते हुए 'श्रोत्रग्राह्यो' इत्यादि मूल में लिखा है। शब्दत्व में शब्द का लक्षण अतिव्याप्त न हो जाय, इसलिए गुण पद दिया। रूप आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए श्रोत्र पद दिया।

[शब्द के लक्षण में यदि 'गुण' पद नहीं रखेंगे तो श्रोत्रग्राह्य" मात्र उसका लक्षण होगा। तब तो शब्दत्व जाति में भी शब्द के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि जिस इन्द्रिय से जिस का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उसमें रहने वाली जाति का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार श्रोत्र-ग्राह्य शब्द में रहने वाली शब्दत्व जाति भी श्रोत्रग्राह्य ही है। जब लक्षण में 'गुण' पद भी रख देते हैं, तब तो शब्दत्व जाति के श्रोत्रग्राह्य होने पर भी गुण न होने से, उसमें शब्द लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार यहाँ लक्षण में यदि "श्रोत्र' पद नहीं देंगे। तब ग्राह्यो गुणः" यही लक्षण का स्वरूप होगा। ऐसी दशा में किसी भी इन्द्रिय से ग्राह्य गुण में लक्षण अतिव्याप्त होने लगेगा यही उपर्युक्त कथन का अभिप्राय है।]

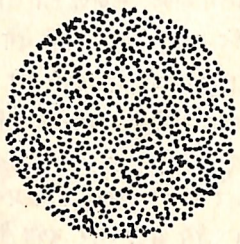
प्रकारान्तर से वह शब्द तीन प्रकार का होता है—संयोगज, विभागज, तथा शब्दज। जैसे भेरी और दण्ड के संयोग से उत्पन्न होने वाला झङ्कार आदि शब्द या हस्त आदि के द्वारा किये गये मृदङ्ग पर अभिघात रूप संयोग से उत्पन्न होने वाला शब्द (संयोगज है।) बाँस आदि के फटते समय दो दलों (भागों) के रूपमें होने वाले विभाग से जन्य चटचटा शब्द विभागज है। एवं शब्द के उत्पत्ति देश (मुख आदि) से लेकर श्रोत्रदेश तक, वीची-तरङ्ग न्याय या कदम्बमुकुल न्याय के अनुसार निमित्त पवन (शब्दोत्पत्ति में कारण भूत वायु) के द्वारा शब्द-धाराएँ उत्पन्न होती हैं। वहाँ पर उत्तर-उत्तर शब्द में (के प्रति) पूर्व-पूर्वके शब्द कारण होते हैं (यही शब्द से उत्पन्न होने वाला शब्द,—शब्दज शब्द कहलाता है।

विशेष—वीचीतरङ्गन्याय का अर्थ है तरङ्ग से तरङ्ग की तरह अर्थात् किसी तालाब आदि में कङ्कड़ी आदि के फेंकने पर जैसे एक तरङ्ग से दूसरी, दूसरी से तीसरी इस प्रकार इस प्रकार अन्त तक तरङ्ग पहुँच जाती हैं। यहाँ प्रत्येक तरङ्ग अपनी पूरी लम्बाई गोलाई में एक होती है उसी प्रकार प्रथम उत्पन्न शब्द से अन्यान्य शब्द तरङ्ग की तरह दूर-दूर तक पूरी परिधि में एक होता हुआ भी पहुँच जाता है तथा श्रोत्र देश में उपलब्ध हो जाता है।

कदम्बमुकुल न्याय का अर्थ है कि कदम्ब के मुकुल (रोवाँ) की तरह अर्थात् जैसे कदम्ब के फल में रोम की तरह कील रहती हैं। उनमें से किसी को भी केन्द्र मानकर निरीक्षण करने पर सभी कीलें गोलाई लिए हुए (मण्डलाकार) दीखेंगी। परन्तु सभी कीलें पृथक-पृथक रहेंगी। इसी तरह शब्द भी उत्पत्ति देश से श्रवणेन्द्रिय तक एक से दूसरा मण्डलाकार पृथक्-पृथक् उत्पन्न होता हुआ पहुँचता है। (चित्र से स्पस्ट देखें)।



वीची तरङ्ग न्याय



कदम्ब मुकुल न्याय

सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विविधा, स्मृतिरनुभवश्च। संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।

त०—समस्त व्यवहार के हेतुभूत गुण को बुद्धि या ज्ञान कहते हैं। वह बुद्धि दो प्रकार की होती है—स्मृति और अनुभव।

केवल संस्कार से जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं।

न्यायबोधिनी

बुद्धेर्लक्षणमाह—सर्वव्यवहारेति। व्यवहारः शब्दप्रयोगः। ज्ञानं विना शब्दप्रयोगासंभवात् शब्दप्रयोगरूपव्यवहारहेतुत्वं ज्ञानस्य लक्षणम्। बुद्धिं विभजते—सा द्विविधेति।

स्मृतिं लक्षयति—संस्कारेति। संस्कारमात्रजन्यत्वविशिष्टज्ञानत्वं स्मृतेर्लक्षणम्। विशेषणानुपादाने प्रत्यक्षानुभवेऽतिव्याप्तिरतस्तद्वारणाय विशेषणोपादानम्। संस्कारध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय विशेष्योपादानम्। ध्वंसं प्रति प्रतियोगिनःकारणत्वात् संस्कारध्वंसेऽपि संस्कारजन्यत्वस्य सत्त्वात्। प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय मात्रपदम्।

न्या०—बुद्धि का लक्षण करते हुए सर्वव्यवहार आदि लिखा। यहाँ 'व्यवहार' शब्द का अर्थ शब्द प्रयोग है। ज्ञान के विना शब्द प्रयोग के असम्भव होने के कारण शब्दप्रयोगरूप व्यवहार का हेतुत्व (हेतु होना) ज्ञान का लक्षण फलित हुआ। बुद्धि का विभाग करते हुए मूल में सा द्विविधा इत्यादि लिखा।

स्मृति का निरूपण करते हुए "संस्कारमात्रजन्यम्" इत्यादि लिखा। संस्कार मात्र जन्यत्व से विशिष्ट ज्ञानत्व [मात्र संस्कार से जो जन्य, उसमें रहने वाले जन्यत्व के अधिकरण में (जन्य में) रहने वाला ज्ञानत्व] यह स्मृति का लक्षण होगा। लक्षण में यदि विशेषणांश नहीं रखेंगे तो प्रत्यक्ष अनुभव में भी लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। [क्योंकि तब 'ज्ञानत्व' मात्र लक्षण का स्वरूप होगा। प्रत्यक्ष अनुभव भी ज्ञान ही है। अतः ज्ञानत्व रूप स्मृति का लक्षण—प्रत्यक्ष अनुभव में भी अतिव्याप्त हो जाएगा]। अतः इस दोष के वारण के लिए विशेषणांश का लक्षण में ग्रहण किया गया है। संस्कार के ध्वंस में लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए विशेष्यांश (ज्ञानत्व) का लक्षण में ग्रहण किया गया। ध्वंस के प्रति प्रतियोगी की कारणता होने के कारण, संस्कार के ध्वंस में भी संस्कार जन्यत्व है [क्योंकि यहाँ ध्वंस का प्रतियोगी संस्कार ही है। स्मृति के लक्षण में ज्ञानत्व रखने से संस्कार के ध्वंस के संस्कार जन्य होने पर भी ज्ञानत्व के न होने से; उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।] प्रत्यभिज्ञा [पहले की देखी हुई वस्तु के फिर देखने पर यह वही हैं अथवा 'वही यह है' यह जो ज्ञान होता है। उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। उसमें अतिव्याप्तिके वारण के लिए लक्षण में 'मात्र' पद दिया गया है। [क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में अनुभव एवं संस्कार दोनों कारण हैं। संस्कारजन्यता होने पर भी उसमें संस्कारमात्र जन्यता नहीं है।]

तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः। यथार्थोऽयथार्थश्च। तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। सैव प्रमेत्युच्यते।

त०—स्मृति से भिन्न ज्ञानको अनुभव कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है—यथार्थ और अयथार्थ।

त०—तद्वान् में तत्प्रकारक अनुभवको यथार्थ अनुभव कहते हैं। जैसे चाँदी में होनेवाला "यह चाँदी है" ऐसा ज्ञान। इसी यथार्थ अनुभवको प्रमा भी कहते हैं।

न्यायबोधिनी

अनुभवं लक्षयति—तद्भिन्नमिति। तद्भिन्नत्वं नाम स्मृतिभिन्नत्वम्। तथा च स्मृतिभिन्नत्वविशिष्टज्ञानत्वमनुभवस्य लक्षणम्। तत्र विशेषणानुपादाने स्मृतावतिव्याप्तिः, विशेष्यानुपादाने घटादावतिव्याप्तिरतस्तद्वारणाय विशेषणविशेष्ययोरुभयोरुपादानम्। अनुभवं विभजते—स द्विविध इति।

यथार्थानुभवं लक्षयति—तद्वतीति। तद्वतीत्यत्र सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम्। तच्छब्देन प्रकारीभूती धर्मो धर्तव्यः।

तथा च तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकानुभवत्वं यथार्थानुभवस्य लक्षणमित्यर्थः।

उदाहरणम्—रजते इदं रजतमिति ज्ञानम्। अत्र रजतत्ववद्विशेष्यकत्वे सति रजतत्वप्रकारकत्वस्य सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः। तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारताशालित्वमिति तु निष्कर्षः।

अन्यथा यथाश्रुते रङ्गरजतयोरिमे रजतरङ्गे इत्याकारकसमूहालम्बनभ्रमेऽतिव्याप्तिः, तत्रापि रजतत्ववद्विशेष्यकत्वरजतत्वप्रकारकत्वयोः रङ्गत्ववद्विशेष्यकत्वरङ्गत्वप्रकारकत्वयोः सत्त्वात्।

उक्तनिष्कर्षे तु नातिव्याप्तिः, तज्ज्ञानस्य रजतत्वप्रकारतायां रजतत्ववद्विशेष्यतानिरूपितत्वाभावात्, एवं रङ्गत्वप्रकारतायां रङ्गत्ववद्विशेष्यतानिरूपितत्वाभावात्। किन्तु समूहालम्बनभ्रमस्य रङ्गांशे रजतत्वावगाहित्वेन रजतत्वप्रकारतायां रङ्गत्ववद्विशेष्यतानिरूपितत्वात्। एवं रजतांशे रङ्गत्वावगाहित्वेन रङ्गत्वप्रकारतायां रजतत्ववद्विशेष्यतानिरूपितत्वाच्चेति। नानामुख्यविशेष्यताशालिज्ञानं समूहालम्बनम्।

न्या०—अनुभव का निरूपण करते हुए 'तद्भिन्नम्' इत्यादि लिखा। तद्भिन्नत्व का स्मृतिभिन्नत्व अर्थ है। इस प्रकार स्मृतिभिन्नत्व के अधिकरण में

रहने वाला ज्ञानत्व अनुभवका लक्षण फलित होता है। लक्षण में विशेषणांश का ग्रहण न किया जाय, तो स्मृति में भी अनुभव के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी [क्योंकि वह स्मृति भी ज्ञान हैं, और ज्ञानत्व ही अनुभवका लक्षण होगा। अतः स्मृतिभिन्नत्व विशेषण ग्रहण किया है। इस प्रकार स्मृति के ज्ञान होने पर भी उसमें स्मृति के भेद के न होने से लक्षण अतिव्याप्त नहीं हो पाता] विशेष्यांश (ज्ञानत्व) के ग्रहण न करने पर घटादि में अनुभव के लक्षण की अतिव्याप्ति होती क्योंकि "स्मृतिभिन्नत्व" मात्र अनुभव का लक्षण होगा। इस प्रकार घट के भी स्मृतिभिन्न होने से उस में भी लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी। विशेष्यांश (ज्ञानत्व) के ग्रहण करने पर तो घट में स्मृतिभेद होने पर भी ज्ञानत्व के न होने से कोई दोष नहीं अतः उन अतिव्याप्तियों के वारण के लिए (अनुभवके लक्षणमें) विशेषणांश एवं विशेष्यांश दोनों का ग्रहण किया गया है। अनुभव का विभाग करते हुए-'स द्विविधः' ऐसा लिखा।

न्या०—यथार्थ अनुभवका निरूपण करते हुए तद्वद् 'इत्यादि लिखा। तद्वति' यहाँ पर सप्तमी विभक्ति का विशेष्यत्व अर्थ है। तथा तत्शब्द से प्रकारीभूत (विशेषणीभूत) धर्म समझना चाहिए। [इस प्रकार यद्धर्म वद्विशेष्यक जो वस्तु हो, उसका तद्धर्मविशेषणक ही जो अनुभव होता है, उसे यथार्थ अनुभव कहते हैं, यह मूल का सरलार्थ है] तथा तद्वद् विशेष्यकत्व के अधिकरण में रहनेवाला तप्रकारक अनुभवत्व यह अनुभव का लक्षण होगा। उदाहरण रजत (चाँदी) में यह रजत है यह ज्ञान यथार्थानुभव है। यहाँ रजतत्ववद्विशेष्यकत्व के अधिकरण 'यह रजत है' इस ज्ञान में रजतत्वप्रकारकत्वके होने से (यथार्थानुभव के) लक्षण का समन्वय हो गया। वस्तुतः उस धर्मवाले में रहनेवाली विशेष्यता, उससे निरूपिता जो उसधर्म में रहनेवाली प्रकारता तद्युक्त यह लक्षण का निष्कर्ष समझना चाहिए।

अन्यथा तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकानुभवत्व इतना ही पूर्वश्रुत लक्षण का स्वरूप रहने पर; जहाँ रङ्ग (राँगा) और रजत (चाँदी) क्रमशः रखे हुए है; वहाँ रजत में रङ्ग एवं रङ्ग में रजत का एक साथ भ्रम होने पर रङ्ग रजत में ये रजत रङ्ग हैं, इस प्रकारके होने वाले समूहालम्बनात्मक भ्रम

में अतिव्याप्ति होगी (तब यह भ्रम भी प्रमा ज्ञान कहलाने लगेगा), क्योंकि रङ्ग रजत इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान की तरह रजतरङ्ग 'यह समूहालम्बनात्मक भ्रमज्ञान भी रजतत्ववद् एवम् रङ्गत्ववद् विशेष्यक तथा रजतत्व एवं रङ्गत्व प्रकारक है। परन्तु उक्त निष्कृष्ट लक्षण के रहने पर भ्रम में यह अतिव्याप्ति नहीं होती है। क्योंकि यह रजतरङ्ग है इस भ्रमात्मक ज्ञान की रजतत्वप्रकारता रजतत्ववद् विशेष्यता से निरूपिता नहीं है। इसी प्रकार रङ्गत्वप्रकारता रङ्गत्ववद्विशेष्यता से निरूपिता नहीं है। किन्तु उस समूहालम्बनात्मक भ्रम के रङ्गांश में रजतत्वावगाहि (रजतत्वसे विशिष्ट) ज्ञान होने से रजतत्वप्रकारता तो है, पर यह प्रकारता रङ्गत्ववद् विशेष्यता से निरूपिता है। इसी प्रकार उक्त समूहालम्बनात्मक भ्रम के रजतांश में रङ्गत्वावगाहि ज्ञान होने से रङ्गत्वप्रकारता तो है, पर यह रजतत्ववद्विशेष्यता से निरूपिता है। भिन्न-भिन्न मुख्य विशेष्यताओं से युक्त जो ज्ञान, वह समूहालम्बनात्मक कहा जाता है।

तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः।

त०—जिस धर्मका अभाव जिस वस्तु में हो उसका तद्धर्म विशेषणक होने वाला जो अनुभव, वह अयथार्थ कहलाता है। जैसे शुक्ति (सीप) में "यह चाँदी है" यह ज्ञान। इसी अयथार्थानुभव को 'अप्रमा' भी कहते हैं।

न्यायबोधिनी

अयथार्थानुभवं लक्षयति—तदभाववतीति। अत्रापि पूर्ववत् तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारताशालिज्ञानत्वं विवक्षणीयम्। अन्यथा रङ्गरजतयोरिमे रङ्गरजते इत्याकारकसमूहालम्बनप्रमायामतिव्याप्तिः। एतत्समूहालम्बनस्य रङ्गरजतोभयविशेष्यकत्वेन रजतत्वरङ्गत्वोभयप्रकारकत्वेन च रजतत्वाभाववद्रङ्गविशेष्यकत्वरजतत्वप्रकारकत्वयो रङ्गत्वाभाववद्रजतविशेष्यकत्वरङ्गत्वप्रकारकत्वयोश्च सत्त्वात्। उक्तनिष्कर्षे तु तादृशप्रमायाः रजतांशे रजतत्वावगाहित्वेन रङ्गांशे रङ्गत्वावगाहित्वेन च रजतत्वप्रकारताया रजतत्वाभाववद्रङ्गविशेष्यतानिरूपितत्वाभावात्, एवं रङ्गत्वप्रकारताया

रङ्गत्वाभाववद्रजतविशेष्यतानिरूपितत्वाभावात् नातिव्याप्तिः। उदाहरणम् —यथा शुक्तौ इदं रजतमिति।

न्या०—अयथार्थानुभव का निरूपण करते हुए 'तदभाववति' इत्यादि लिखा। यहाँ पर भी पूर्व की तरह निरूपितत्वघटित "तदभाववन्निष्ठविशेष्यता-निरूपिततन्निष्ठप्रकारताशालिज्ञानत्व" ऐस लक्षण समझ लेना चाहिए। उस धर्मके अभाव वाले में रहने वाली जो विशेष्यता, उससे निरूपिता जो प्रकारता तत्शालित्व, यह लक्षणका अर्थ है।

यदि अयथार्थानुभव का निष्कृष्ट लक्षण स्वीकार न किया जाय, तो-जो क्रमशः रङ्गरजत रखे हुए हैं, उस रङ्गरजत में "ये रङ्गरजत हैं" इस समूहा-लम्बनात्मक प्रमा में भी अयथार्थानुभव के लक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी क्योंकि इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान के, रंगरजत उभय विशेष्यक होने से, वह रजतत्व के अभाव से युक्त जो रंग तद्विशेष्यक रजतत्वप्रकारक तथा रंगत्व के अभाव से युक्त जो रजत, तद्विशेष्यक रंगत्वप्रकारक है (अतः उस समूहा-लम्बनात्मक ज्ञान में अयथार्थानुभव के लक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी)। उक्त निष्कर्षभूत लक्षण स्वीकार करलेने पर तो उस समूहालम्बनात्मक प्रमा के रजतांश में रजतत्वावगाहित्व तथा रंगांश में रंगत्वावगाहित्व के होने से, रजतत्वप्रकारता रजतत्वाभाववद् रंगनिष्ठा विशेष्यता से निरूपिता नहीं हो पाएगी, तथा रंगत्व प्रकारता भी रंगत्वाभाववद्विशेष्य जो रजत, उसमें रहने वाली जो विशेष्यता उससे निरूपिता नहीं हो पाएगी। अतः यहाँ अयथार्था-नुभव के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यथार्थानुभवश्चतुर्विधः। प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्करणमपि चतुर्विधम्। प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।

त०—यथार्थानुभव (या प्रमाज्ञान) चार प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द :

त०—उन यथार्थ अनुभवों के करणभी चार होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

न्यायबोधिनी

यथार्थानुभवं विभजते—चतुर्विध इति।

तत्करणमिति। फलीभूतप्रत्यक्षादिकरणं चतुर्विधमित्यर्थः। प्रत्यक्षादिचतुर्विधप्रमाणानां प्रमाकरणत्वं सामान्यलक्षणम्। एकैकप्रमाणलक्षणन्तु वक्ष्यते प्रत्यक्षज्ञानेत्यादिना।

न्या०—ययार्थानुभव का विभाग करते हुए मूल में चतुर्विधः लिखा।

न्या०—'तत्करणं चतुर्विधम्' का फलीभूत जो प्रत्यक्ष आदि यथार्थानुभव, उसके करण भी चार होते हैं, यह अभिप्राय है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का 'प्रमाकरणत्व' यह सामान्य लक्षण होगा। अलग-अलग प्रमाणों के लक्षण आगे चलकर यथावसर किए जाऐंगे।

असाधारणं कारणं करणम्।

त०—असाधारण कारण को करण कहते हैं।

न्यायबोधिनी

करणलक्षणमाह—असाधारणमिति। व्यापारवदसाधारणं कारणं करणमित्यर्थः। असाधारणत्वञ्च कार्यत्वातिरिक्तधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताशालित्वम्। यथा—दण्डादेर्घटादिकं प्रत्यसाधारणकारणत्वम्। कार्यत्वातिरिक्तो घटत्वादिरूपो धर्मः तदवच्छिन्नकार्यता घटे, तन्निरूपिता कारणता दण्डे। अतो घटं प्रति दण्डोऽसाधारणं कारणम्। भ्रम्यादिरूपव्यापारवत्वाच्च करणम्। साधारणत्वंच कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताशालित्वम्! ईश्वरादृष्टादेःकार्यत्वाच्छिन्नं प्रत्येव कारणत्वात् साधारणकारणत्वम्।

न्या०—करण का लक्षण करते हुए 'असाधारणम्' इत्यादि लिखा। 'व्यापारवान् असाधारण कारण करण कहलाता है' यह उसका अर्थ हुआ [अर्थात् करण के लक्षण में व्यापारवद् विशेषण भी युक्त कर लेना चाहिए]। कार्यत्व

से अतिरिक्त धर्म से अवच्छिन्न जो कार्यता, उससे निरूपिता जो कारणता, ततशालित्व (तद्युक्तत्व) ही कारण का असाधारणत्व है। जैसे दण्ड आदि की घट आदि के प्रति असाधारणकारणता है। यहाँ कार्यत्व से अतिरिक्त जो घटत्व आदि धर्म, उससे अवच्छिन्ना कार्यता घट में है। तथा उस कार्यता से निरूपिता कारणता दण्ड में है। अतः घट के प्रति दण्ड असाधारण कारण हुआ। तथा भ्रमिरूप व्यापार से युक्त है, अतः वह करण सिद्ध होता है, कार्यत्व से अवच्छिन्न जो कार्यता, उससे निरूपिता जो कारणता तत्शालित्व को साधारणत्व कहते हैं। ईश्वर एवं अदृष्ट आदि के कार्यत्व से अवच्छिन्न कार्यमात्रोंके प्रति कारण होने से वे ईश्वर, अदृष्ट आदि साधारण कारण (सिद्ध होते) हैं।

कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्।

त०—कार्य से नियमतः (निश्चित रूपसे) पूर्ववृत्ति (पहले रहनेवाला) कारण (कहलाता) है। (अर्थात् कार्यकी उत्पत्ति से पूर्व जिसका रहना अत्यन्त आवश्यक हो, वह कारण होता है)।

न्यायबोधिनी

कारणं लक्षयति—कार्यनियतेति। कार्यं प्रति नियतत्वे सति पूर्ववृत्तित्वम्। नियतत्वविशेषणानुपादाने पूर्ववर्तिनो रासभादेरपि घटादिकारणत्वं स्यात् अतो नियतत्वे सतीति विशेषणम्। नियतपूर्ववर्तिनो दण्डरूपादेरपि घटकारणत्वं स्यादतोऽनन्यथासिद्धपदमपि कारणलक्षणे निवेशनीयम्। दण्डरूपादीनां त्वन्यथासिद्धत्वात्।

न्या०—कारण का निरूपण करते हुए, 'कार्यनियत' इत्यादि लिखा। 'कार्य के प्रति नियतत्व के अधिकरण में रहने वाला पूर्ववृत्तित्व यह कारण का लक्षण होगा। यदि लक्षणमें नियतत्व विशेषण नहीं रखा जाएगा तो (घटादि कार्य से) पूर्ववर्ती जो रासभ (गदहा) आदि, उनकी भी घट आदि के प्रति कारणता सिद्ध होने लगेगी। अतः लक्षण में 'नियतत्वे सति' यह विशेषणांश रखा गया है। घट आदि कार्यसे नियतपूर्ववर्ती जो दण्डरूप आदि उनकी भी

घट आदि कार्य के **प्रति** कारणता सिद्ध होने लगेगी, अतः कारण के लक्षण में 'अनन्यथासिद्ध' पद भी रखना चाहिए (इस प्रकार "अनन्यथासिद्धनियतपूर्व-वृत्ति कारणम्" यह लक्षण का स्वरूप होगा।) इस प्रकार नियतपूर्व वृत्ति होने पर भी अन्यथासिद्ध होने के कारण दण्डरूप आदि, घटआदिकार्य के प्रति कारण सिद्ध नहीं हो पाते।

विशेष—न्यायबोधिनी वर्णित अन्यथा सिद्ध का कोई भी विवरण प्रकृत ग्रन्थ में नहीं है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली आदि ग्रन्थों में अन्यथा सिद्ध के एवं अन्यथा सिद्धि के सामान्य एवं विशेष लक्षणों का विवरण, तथा टीका ग्रन्थों में इसकी मीमांसा है। इस विषय में स्वतन्त्र विवेचना "अन्यथासिद्धिविमर्श" नामक हमारे ग्रन्थ से भी देखी जा सकती है। यहाँ संक्षेपतः यह जानना चाहिए कि अन्यथा अर्थात् विना सिद्ध अन्यथा सिद्ध हैं वस्तु या पदार्थ, जिसकी बिना अपेक्षा किए ही कार्य हो जाय, उस कार्य के प्रति वह अन्यथासिद्ध होगा। वह भले ही आकस्मिक या नियमतः कार्य की उत्पत्ति से पहले (उत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व काल एवं उत्पत्तिदेश में) उपस्थित हो, यदि कार्य उत्पत्ति में उनकी अपेक्षा नहीं रखता है तो वे उस कार्य के प्रति अन्यथा-सिद्ध हुए। यह पाँच प्रकार का वर्णित है १—कारण में रहने वाला धर्म २—कारण में रहने वाला रूप ३—दूसरे की सहायता से कार्य के प्रति जिसकी कारणता (पूर्व वर्तिता) सिद्ध होती हो, ४—कारण का कारण ५—कार्य के प्रति नियमावश्यकपूर्वभावी से अतिरिक्त सब। जैसे घट के प्रति दण्डत्व, दण्डरूप, आकाश, कुम्भकार का पिता और गदहा ये क्रमशः उदाहरण हैं। मेरी दृष्टि से अनन्यथासिद्ध को कारण के लक्षण में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि कारण के लक्षण में आए हुए नियत शब्द का सभी ग्रन्थों में अन्ततोगत्वा अपेक्षित आवश्यक उपस्थिति ही अर्थ किया है। कारण के रहने पर ही कार्य उत्पति होगी यह निर्विवाद है। तब तद्भिन्न (कार्य के प्रति जिसकी उपस्थिति पूर्व में होना आवश्यक रूप से अपेक्षित है। एतद्रूप कारण से शून्य) स्थिति में कार्योत्पत्ति का व्यभिचार ही कैसे उपस्थित होगा, और उक्तरूप कारणभिन्न में कारणता घटित कैसे होगी। अन्यथा सिद्धि एवं

तद्राहित्य पर अवलम्बित सभी विवाद एक वितण्डाबाद से अधिक कुछ भी नहीं है। अतः मूलोक्त "कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्" यह लक्षण सर्वथा उपयुक्त है। क्योंकि जितने भी अन्यथासिद्ध गिनाए गये हैं; वे भले ही कार्य उत्पत्ति से पूर्व में उपस्थित हो परन्तु उनकी उपस्थिति की (आवश्यक नियतोपस्थिति की) अपेक्षा कार्य की उत्पत्ति में नहीं है।

कार्यं प्रागभावप्रतियोगि।

त०—कार्य प्रागभाव प्रतियोगी है, अर्थात् प्रागभाव के प्रतियोगी को कार्य कहते हैं।

न्यायबोधिनी

कार्यं लक्षयति—कार्यमिति। प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यस्य लक्षणम्। कार्योत्पत्तेः पूर्वम् 'इह घटो भविष्यति, इतिप्रतीतिर्जायते एतत्प्रतीतिविषयीभूतो योऽभावः स प्रागभावस्तत्प्रतियोगि घटादिरूपं कार्यम्।

न्या०—कार्य का लक्षण करते हुए 'कार्यम्' इत्यादि लिखा। तदनुसार "प्रागभावप्रतियोगित्व" यह कार्य का लक्षण हुआ। (किसी वस्तु की उत्पत्ति से पहले जो प्रतीति होती है, उस प्रतीति का विषयीभूत जो अभाव, वह प्रागभाव कहलाता है। अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व किसी भी वस्तु का जो अभाव वह उस वस्तु का प्रागभाव कहलाता है, तथा जिसका प्रागभाव होगा, वही प्रागभाव का प्रतियोगी होगा, और प्रागभाव के प्रतियोगी को ही कार्य कहते हैं। जैसे घट) कार्य की उत्पत्ति से पहले "यहाँ घड़ा उत्पन्न होगा" ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रतीति का विषयीभूत अभाव 'घटाभाव' है। यही घट का प्रागभाव है। अर्थात् यह जो घट का अभाव है, वह घटोत्पत्ति से प्राक्कालिक है, अतः यह घट का अभाव, घट का प्रागभाव कहलाएगा। इसका प्रतियोगी घट ही है। अतः घट कार्य है, यह सिद्ध हुआ।

कारणं त्रिविधं समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्।

त०—समवायि, असमवायि और निमित्त के भेद से कारण तीन प्रकार का होता है।

न्यायबोधिनी

कारणं विभजते—कारणमिति । समवायिकारणमसमवायिकारणं निमित्तकारणञ्चेति ।

न्या०—कारण का विभाग करते हुए 'कारणं त्रिविधं' यह तर्कसंग्रहमूल में लिखा है । (इस प्रकार) समवायिकारण असमवायिकारण और निमित्तकारण यह उसका तात्पर्य हुआ ।

यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम् । यथा तन्तवः पटस्य । पटश्च स्वगतरूपादेः ।

त०—जिसमें समवेत कार्य उत्पन्न होता है, वह (कारण) समवायिकारण (कहलाता) है । जैसे तन्तु पट के प्रति, तथा पट स्वगत (पट में रहनेवाले) रूप आदि के प्रति (समवायिकारण है) ।

न्यायबोधिनी

समवायिकारणं लक्षयति—यत्समवेतमिति । यस्मिन् समवेतं सत् समवायेन सम्बद्धं सत् कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणमित्यर्थः । उदाहरणम्—यथा तन्तव इति । तन्तुषु समवायेन सम्बद्धं सत् पटात्मकं कार्यमुत्पद्यतेऽतस्तन्तवः समवायिकारणमित्यर्थः ।

सामान्यलक्षणन्तु-समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितत्वादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणत्वं समवायिकारणत्वमिति ।

समवायसम्बन्धेन घटाधिकरणे कपालादौ कपालादेः तादात्म्यसम्बन्धेनैव सत्त्वात्, समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितत्वादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतायाः कपालादौ सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः ।

समवायेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन द्रव्यस्यैव कारणत्वात् जन्यभावेषु द्रव्यगुणकर्मसु त्रिषु द्रव्यमेव समवायिकारणम् । द्रव्ये तु द्रव्यावयवाः समवायिकारणम् । गुणादावपि द्रव्यमेव समवायिकारणमित्याशयेनाह—पटश्च स्वगतरूपादेरिति । समवायिकारणमित्यनुषज्यते ।

न्या०—समवायिकारण का निरूपण करते हुए 'यत् समवेतम्' इत्यादि लिखा। 'जिसमें समवेत अर्थात्' समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ कार्य उत्पन्न होता है वह समवायिकारण है, यह अर्थ है। समवायिकारण का उदाहरण देते हुए 'तन्तवः पटस्य' इत्यादि मूल में लिखा। तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ पट रूप कार्य उत्पन्न होता है। अतः तन्तु पट का समवायिकारण हुआ कहने का यही भाव है। समवायिकारण का सामान्य लक्षण अर्थात् निष्कर्षभूत लक्षण आगे दिया जा रहा है—

समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्ना जो कार्यता उससे निरूपित जो तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न कारणत्व, वही समवायिकारणत्व है (अर्थात् समवायिकारण का लक्षण है)।

समवाय सम्बन्ध से घट के अधिकरण कपाल आदि में कपाल आदि के तादात्म्य सम्बन्ध से ही रहने के कारण, समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न घटत्व से अवच्छिन्न कार्यता से निरूपिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्ना कारणता के, कपाल आदि में रहने से कपाल आदि में (घट के) समवायिकारण के लक्षण का समन्वय हो जाता है। समवाय सम्बन्ध से जन्यभावत्व से अवच्छिन्न के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य की ही कारणता होने से, जन्यभाव द्रव्य-गुण-कर्म इन तीनों में (तीनों के प्रति) द्रव्य ही समवायि कारण होगा। इसी अभिप्राय से मूल में 'पटश्च स्वगतरूपादेः' यह लिखा। यहाँ समवायिकारणं का भी योग कर लेना चाहिए। इस प्रकार 'पट स्वगत (पट में रहने वाले) रूप आदि के प्रति समवायिकारण होता है यह अर्थ होगा।

कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणमसमवायिकारणम्।

यथा तन्तुसंयोगः पटस्य। तन्तुरूपं पटरुपस्य।

त०—कार्य अथवा कारण के साथ एक अर्थ में समवेत रहता हुआ कारण असमवायिकारण है। जैसे तन्तुसंयोग पट का एवं तन्तुरूप पटरूप का।

न्यायबोधिनी

असमवायिकारणं लक्षयति—कार्येणेति। कार्येण सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् यत् कारणं तदसमवायिकारणमित्यन्वयः। कारणेन सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् यत् कारणं तदसमवायिकारणमित्यन्वयः। अत्र कारणेनेत्यस्य स्वकार्यसमवायिकारणेनेत्यर्थः। जन्यद्रव्यमात्रेऽवयवसंयोगस्यैवासमवायिकारणत्वात् पटात्मककार्ये तदवयवतन्तुसंयोगस्यैवासमवायिकारणत्वमिति दर्शयति—यथा तन्तुसंयोगः पटस्येति। पटात्मककार्येण सहैकस्मिन्नर्थे तन्तौ समवेतं सत् समवायसम्बन्धेन वर्तमानं सत् पटात्मककार्यं प्रति तन्तुसंयोगात्मकं कारणमसमवायिकारणमित्यर्थः। द्वितीयमसवायिकारणं कारणेन सहेत्यादिना यत् पूर्वोक्तं तदुदाहरति—तन्तुरूपमिति। कारणेन सह पटरूपसमवायिकारणीभूतपटेन सह एकस्मिन्नर्थे तन्तुरूपेऽर्थे समवेतं सत् समवायसन्बन्धेन वर्तमानं सत् तन्तुरूपं पटगतरूपं प्रति कारणं भवति, अतोऽसमवायिकारणं तन्तुरूपं पटगतरूपस्य। सामान्यलक्षणन्तु—समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता या समवायस्वसमवायिसमवेतत्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्ना कारणता तदाश्रयत्वमसमवायिकारणत्वमिति।

द्रव्यासमवायिकारणीभूतावयवसंयोगादौ तु समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना कपालद्वयसंयोगनिष्ठा कारणता कपालद्वयसंयोगे वर्तते।

एवमाद्यपतनक्रियायामाद्यस्यन्दनक्रियायां च गुरुत्वद्रवत्वे असमवायिकारणे भवतः। आद्यपतनक्रियां प्रति आद्यस्यन्दनक्रियां प्रति च समवायसम्बन्धेनैव तयोः कारणत्वात्, । अवयविगुणादौ त्वावयवगुणादेःस्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनैव कारणत्वात्, तत्सम्बन्धावच्छिन्नकारणताश्रयत्वमवयवगुणादौ वर्तते। अवयवगुणकपालतन्तुरूपादेः स्वशब्दग्राह्यकपालरूपतन्तुरूपसमवायिकपालतन्तुसमवेतत्वसम्बन्धेन घटपटादौ सत्त्वात्।

न्या०—असमवायिकारण का लक्षण करते हुए कार्येण इत्यादि लिखा है। कार्य के साथ एक अर्थ में समवेत (समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध) रहता हुआ

जो कारण हो, (उस कार्य का) वह असमवायिकारण है ऐसा[1] शब्दार्थ सम्बन्ध (अन्वय) है।[2] कारण के साथ एक अर्थ में समवेत रहता हुआ जो कारण हो वह असमवायिकारण है ऐसा अन्वय है। यहाँ पर 'कारणेन' इसका स्वकार्य समवायिकारणेन यह अर्थ है। ["स्व = जिसको असमवायिकारण बनाना चाहते हैं, उसका जो कार्य उसका जो समवायिकारण उसके साथ "यह स्व-कार्य समवायिकारणेन शब्द का अर्थ है।] जन्य द्रव्यमात्र के प्रति उसके अवयव संयोग के ही असमवायिकारणत्व के होने से पटात्मक कार्य के प्रति भी उसके अवयव तन्तुओं का संयोग ही असमवायिकारण है। इसी को बतलाने के लिए 'यथा तन्तुसंयोगः पटस्य' यह मूल में उदाहरण दिया। 'पट' कार्य के साथ एक अर्थ तन्तु में समवेत (अर्थात् समवायसम्बन्ध से विद्यमान) रहता हुआ 'पट' कार्य के प्रति असमवायिकारण है, यह भाव है। "कारणेन सह" इत्यादि के द्वारा जो पूर्वोक्त दूसरे प्रकार का असमवायिकारण है, उसका उदाहरण देते हुए "तन्तुरूपम्" (तन्तुरूप, पटरूप का (के प्रति) असमवायिकारण है) ऐसा कहा है।

कारण के साथ अर्थात् "पटरूप" (कार्य) के समवायिकारणीभूत पट के साथ एक अर्थ (तन्तु) में समवेत रहता हुआ अर्थात् समवाय सम्बन्ध से वर्त-मान रहता हुआ 'तन्तुरूप', पटगतरूप के प्रति कारण (भी) है। अतः तन्तु-गतरूप, पटगतरूप के प्रति असमवायिकारण है।

इस प्रकार "समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्ना जो कार्यता, उससे निरूपित जो समवाय या स्वसमवायिसमवेतत्व (कार्य के समवायि में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध, उसमें रहने वाला धर्म) इन दोनों में से किसी एक से अवच्छिन्ना जो कारणता, उसका आश्रयत्व (आश्रय होना)" यह असमवायिकारण का निष्कर्षभूत लक्षण होगा।

द्रव्य के असमवायिकारणीभूत (असमवायिकारण) जो (द्रव्य के) अवयव संयोग आदि, उनमें तो समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्ना कारणता रहती है।

---

१. [मूलोक्त लक्षण का]

२. [इसी प्रकार]

जैसे 'घट' द्रव्य के प्रति कपालद्वय संयोग में रहने वाली कारणता, समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्ना है तथा समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्ना घटत्व से अवच्छिन्ना जो कार्यता उससे निरूपिता है।[1]

इसी प्रकार आद्यपतन क्रिया में तथा आद्य स्यन्दन क्रिया में क्रमशः गुरूत्व और द्रवत्व असमवायिकारण होंगे। क्योंकि आद्यपतन क्रिया एवं आद्य स्यन्दन क्रिया के प्रति उन दोनों (गुरूत्व द्रवत्व) की समवाय सम्बन्ध से ही कारणता है। अवयवी के गुण आदि के प्रति तो अवयव के गुण आदि की स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से ही कारणता है, और उस (स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से अवच्छिन्न कारणता का आश्रयत्व अवयवगुण आदि में है। अवयव कपाल एवं तन्तु आदि के गुण जो "कपालरूप" तथा "तन्तु रूप" आदि उनकी स्वशब्दग्राह कपाल रूप तन्तु रूप समवायिकपालतन्तु समवेतत्वसम्बन्ध से घट पट आदि में सत्ता है। स्वशब्द (कपालरूप-तन्तु रूप) आदि रूप से ग्राह्य जो कपालरूप एवं तन्तु रूप आदि, उनके समवायी जो कपाल एवं तन्तु आदि, उनमें समवेतत्व सम्बन्ध से रहने वाले घट पट आदि जो कार्य उनमें सत्ता रहने से (लक्षण का समन्वय हो जाता है)। [अर्थात् कपालरूप तथा तन्तुरूप, घट तथा पट में स्वसमवायितत्व समवेत सम्बन्ध से रहते हैं। अतः इनमें (कपाल रूप-तन्तु रूप आदि में) रहने वाली घटरूप पटरूप आदि (कार्य) की कारणता स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से अवच्छिन्ना है। अतः कपालरूप एवं तन्तुरूप, घटरूप एवं पटरूप के प्रति असमवायि कारण सिद्ध होते हैं।]

तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। यथा तुरीवेमादिकं पटस्य।

त०—उन दोनों [समवायि असमवायि कारणों] से भिन्न कारण निमित्त कारण है। जैसे पट के प्रति तुरी वेमा आदि निमित्त कारण हैं।

---

१. [अतः कपालद्वय संयोग घट का असमवायिकारण सिद्ध होता है।]

न्यायबोधिनी

निमित्तकारणं लक्षयति—तदुभयभिन्नमिति । समवायिकारणभिन्नत्वे सति असमवायिकारणभिन्नत्वे सति कारणत्वं निमित्तकारणत्वम् ।

न्या०—निमित्त कारण का निरूपण करते हुए तदुभयभिन्नं इत्यादि लिखा । (उसके अनुसार) समवायिकारण भिन्नत्व के अधिकरण में रहने वाला जो असमवायिकारण भिन्नत्व, उसके अधिकरण में रहने वाला कारणत्व निमित्त कारणत्व है (अर्थात् निमित्त कारण का लक्षण फलित होता है ।)

तदेतत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम् ।

त०—इन तीनों में जो असाधारण कारण हो वही करण है [अर्थात् उन तीनों कारणों में जो भी असाधारण कारण होता है, उसी को करण कहते हैं]

न्यायबोधिनी

तदेतदिति । यदसाधारणमिति । व्यापारवत्त्वे सतीत्यपि पूरणीयम् । अन्यथा तन्तुकपालसंयोगयोरतिव्याप्तिः, तन्तुकपालसंयोगयोरपि कार्यत्वातिरिक्त-पटत्वघटत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वादसाधारणत्वमत्स्येवेत्यतस्तत्र करणत्व-वारणाय व्यापारवत्त्वे सतीति करणलक्षणे विशेषणं देयम् । व्यापारत्वञ्च तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम् । भवति हि दण्डजन्यत्वे सति दण्डजन्यघट-जनकत्वाद् भ्रम्यादेर्व्यापारत्वम् । एवं कपालसंयोगतन्तुसंयोगादेरपि कपाल-तन्तुव्यापारत्वम् कपालतन्तुजन्यत्वे सति कपालतन्तुजन्यघटपटजनकत्वात् । करणलक्षणेऽसाधारणत्वविशेषणानुपादाने ईश्वरादृष्टादेरपि व्यापारवत्कारण-त्वस्य सत्त्वात् तत्रातिव्याप्तिवारणायासाधारणेति विशेषणम् ।

न्या०—असाधारण कारण में 'व्यापारवत्व' पद का भी ग्रहण करके करण के लक्षण को पूरा कर लेना चाहिए । [अर्थात् व्यापारवान् असाधारण कारण, करण है) अन्यथा (व्यापारवत्व विशेषण के अभाव में) तन्तु संयोग और कपाल संयोग में भी करण के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि तन्तु संयोग

एवं कपाल संयोग में भी कार्यत्व से अतिरिक्त पटत्व, घटत्व धर्म से अवच्छिन्न के प्रति कारणत्व होने से असाधारण तो है ही अतः तन्तु संयोग या कपाल आदि के संयोग में करणत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए व्यापार वत्वे सति' यह विशेषणांश करण के लक्षण में देना चाहिए। तत् (करणत्वेन अभिप्रेत जो कारण, उस) से जो जन्य, उसमें रहने वाला जो जन्यत्व, उसके अधिकरण में रहने वाला जो तत् (करण रूप से इष्ट कारण) उससे जन्य के जनक में रहने वाला जनकत्व व्यापारवत्व है (अर्थात् जिसको करण बनाना चाहते हैं, उससे जो जन्य हो तथा उसके (करण रूप से अभिलषित के) जन्य का जनक हो वही व्यापार है। "(दण्डजन्यत्वसमानाधिकरणदण्डजन्यजनकत्व" रूप करण के लक्षण के भ्रमि आदि में होने से भ्रमि आदि का व्यापारत्व सिद्ध होता है। (अर्थात् दण्ड से जन्य होने से एवं दण्ड से जन्य जो घट उसकी जनक होने से भ्रमि ही व्यापार सिद्ध होती है, तथा उससे युक्त होने के कारण दण्ड व्यापारवान्, असाधारण कारण सिद्ध होता है। अतः दण्ड घट कार्य के प्रति करण हुआ।) इसी प्रकार कपाल संयोग एवं तन्तु संयोग का, कपाल एवं तन्तु का व्यापारत्व सिद्ध होता है। क्योंकि कपाल संयोग में भी कपालतन्तुजन्यत्व तथा कपालतन्तु जन्य घट-पट जनकत्व है। अतः यहाँ कपाल एवं तन्तु व्यापारवान् एवं असाधारण कारण होने से करण कहलाते हैं)। करण के लक्षण में असाधारणत्व विशेषण (विशेष्यदल) यदि न दें तो ईश्वर एवं अदृष्ट आदि में भी, व्यापारवत्कारणत्व के होने से उनमें (ईश्वरादि में) भी करण के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अतः उनमें (ईश्वरादि में) करण के लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए असाधारणत्व विशेषण करण के लक्षण में रखा गया है।

तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्।

त०—उनमें (यथार्थ ज्ञानों में) प्रत्यक्षज्ञान के करण को प्रत्यक्ष कहते हैं।

न्यायबोधिनी

षड्विधेन्द्रियभूतप्रत्यक्षप्रमाणस्य लक्षणमाह—तत्रेति। प्रमाभूतेषु प्रत्यक्षात्मकं यज्ज्ञानं चाक्षुषादिप्रत्यक्षं तत्प्रति व्तापारवदसाधारणं कारणमिन्द्रियं

भवति। अतः प्रत्यक्षज्ञानकरणत्वं प्रत्यक्षस्य लक्षणम्। आद्यसन्निकर्षातिरिक्त-चतुर्विधसन्निकर्षाणां समवायरूपत्वेनेन्द्रियजन्यत्वाभावाद् व्यापारत्वं न संभवतीति इन्द्रियमनःसंयोगस्येव बाह्यप्रत्यक्षे जननीये इन्द्रियव्यापारता बोध्या। मानसप्रत्यक्षे त्वात्ममनःसंयोगस्यैव सा बोध्या।

न्या०—छः प्रकार के इन्द्रिय (चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक्, श्रोत्र एवं मन) भूत जो प्रत्यक्ष प्रमाण, उसका लक्षण कहते हुए तत्र इत्यादि लिखा। प्रमाभूत प्रत्यक्षादि (अनुमिति, उपमिति, शब्द) में जो प्रत्यक्षात्मक (प्रत्यक्ष) ज्ञान, उसके प्रति व्यापारवान् असाधारण कारण इन्द्रियाँ होती हैं। अतः प्रत्यक्षज्ञान कारणत्व (कारण होना) ही प्रत्यक्ष (प्रमाण) का लक्षण फलित होता है। आद्य (प्रथम) और अन्तिम (इन्द्रियार्थ) सन्निकर्ष (संयोग और विशेष्यविशेषणभाव) से अतिरिक्त जो चार सन्निकर्ष (संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेतसमवाय (उनके समवायरूप होने से, उनमें इन्द्रियजन्यत्व न होने से व्यापारत्व सम्भव नहीं है। अतः यहाँ इन्द्रिय-मनः संयोग ही बाह्य प्रत्यक्ष की उपपत्ति में (प्रत्यक्षज्ञान करने में) इन्द्रिय की व्यापारता समझनी चाहिए (अर्थात् बाह्यप्रत्यक्ष उत्पत्ति में इन्द्रिय-मनः संयोग ही व्यापाररूप पड़ेगा, तथा वह इन्द्रिय का व्यापार है (इन्द्रिय में रहता है। अतः इन्द्रिय ही व्यापारवान् होगी) मानस प्रत्यक्ष में आत्मा और मन का संयोग ही व्यापार होगा, तथा यह व्यापार मन का होगा, अतः मन ही व्यापारवान् हुआ)।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् [ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।]

त०—इन्द्रिय और अर्थ (पदार्थ) के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष (ज्ञान) है। अथवा ज्ञानाकरणक ज्ञान (ज्ञान जिसमें करण न हो ऐसा ज्ञान) प्रत्यक्ष (ज्ञान) है।

न्यायबोधिनी

प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणमुक्त्वा प्रत्यक्षप्रमालक्षणमाह—इन्द्रियार्थसन्निकर्षेति। जन्यप्रत्यक्षस्यैव लक्ष्यत्वमित्यभिप्रायेणेदं लक्षणम् ज्ञानाकरणकमिति। क्षेपकं

लक्षणमिदम् । ज्ञानं-व्याप्तिज्ञानं सादृश्यज्ञानं पदज्ञानं च तदेव करणं येषां तानि ज्ञानकरणकानि, अनुमित्युपमितिशाब्दानि तद् भिन्नं ज्ञानाकरणकं यज्ज्ञानं तत्त्वम् प्रत्यक्षप्रमाया लक्षणम् । प्रत्यक्षे इन्द्रियाणामेव करणत्वात् नतुज्ञानस्य करणत्वमिति समन्वयः । इदं लक्षणमीश्वरप्रत्यक्षसाधारणम्, ईश्वरप्रत्यक्षस्य ज्ञानाकरणकत्वात् ।

न्या०—प्रत्यक्ष प्रमाणका लक्षण करके प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण करते हुए 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष; इत्यादि लिखा। जन्य प्रत्यक्ष (प्रमा) को ही मात्र लक्ष्य करके यह लक्षण किया गया है "ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्" यह प्रत्यक्ष प्रमाका क्षेपक लक्षण है। ज्ञान अर्थात् व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान और पदज्ञान; ये हैं करण जिसके वह ज्ञान, ज्ञानकरणक कहलाएगा। ऐसे ज्ञान अनुमिति उपमिति और शाब्द हैं। उससे भिन्न जो ज्ञान, वह ज्ञानाकरणक ज्ञान होगा (ऐसा ज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान ही हैं)। उसमें रहने वाला तत्व। (असाधारण धर्म) प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण होगा। [अर्थात् "ज्ञानाकरणक ज्ञानत्व" यह प्रत्यक्ष प्रमा (ज्ञान) का लक्षण फलित होता है]। प्रत्यक्ष (ज्ञान) में इन्द्रियों का ही करणत्व है, ज्ञान का नहीं। अर्थात् इन्द्रियाँ ही करण हैं ज्ञान नहीं। इस प्रकार लक्षण का समन्वय हो जाता है। यह प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण ईश्वर प्रत्यक्ष एवं जन्य प्रत्यक्ष दोनों के लिए उचित लक्षण हैं। चूँकि ईश्वर प्रत्यक्ष में भी ज्ञानाकरणकत्व ज्ञान है अतः ईश्वर प्रत्यक्ष में भी ज्ञानाकरणत्व के होने से लक्षण का समन्वय हो जाता है।

[क्योंकि 'ईश्वर प्रत्यक्ष' नित्य है, अतः किसी कारण का कार्य नहीं, तब कोई ज्ञान उसमें करण कैसे होगा ?]

तद् द्विविधम्। निर्विकल्पकं सविकल्पकञ्चेति। तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम् ।

त०—वह प्रत्यक्ष ज्ञान दो तरह का होता है। निर्विकल्पक और सविकल्पक। इन दोनों प्रत्यक्ष ज्ञानों में 'निष्प्रकारक ज्ञान (निर्विशेषणक) निर्विकल्पक (कहलाता) है। (जैसे 'यह कुछ है' ऐसा ज्ञान।)

प्रत्यक्षं विभजते—निर्विकल्पकमिति। तल्लक्षयति—तत्र निष्प्रकारकमिति। प्रकारताशून्यज्ञानत्वमेव निर्विकल्पकत्वमित्यर्थः। निर्विकल्पके चतुर्थी विषयता स्वीक्रियते न तु त्रिविधविषयतामध्ये कापि तत्रास्ति। अतो विशेष्यताशून्यज्ञानत्वं, संसर्गताशून्यज्ञानत्वमित्यपि लक्षणं सम्भवति।

न्या०—प्रत्यक्ष ज्ञान का विभाग करते हुए "निर्विकल्पकं सविकल्पकञ्चेति" लिखा निर्विकल्पक (प्रत्यक्षज्ञान) का लक्षण करते हुए "निष्प्रकारकम्" इत्यादि लिखा। इस प्रकार प्रकारता (विशेषणता) से शून्य ज्ञानत्व ही निर्विकल्पकत्व है (अर्थात् निर्विकल्पक का लक्षण है)। निर्विकल्पकज्ञान में चतुर्थी विषयता (अर्थात् कोई एक विलक्षण विषयता) ही स्वीकार की जाती है। क्योंकि (प्रकारता, विशेष्यता एवं संसर्गता रूप) विविध विषयताओं के मध्य (में से) कोई भी विषयता वहाँ नहीं है। अतः (प्रकारता शून्य ज्ञानत्व की तरह) विशेष्यताशून्यज्ञानत्व या संसर्गताशून्यज्ञानत्व यह भी लक्षण (निर्विकल्पक ज्ञान का) सम्भव है।

सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्। यथा डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति।

त०—सप्रकारक (सविशेषणक) ज्ञान सविकल्पक है। जैसे "यह डित्थ है" "यह ब्राह्मण है" "यह श्याम है" ऐसा (ज्ञान)।

न्यायबोधिनी

सविकल्पकं लक्षयति—सप्रकारकमिति। विषयताया ज्ञाननिरूपितत्वात् ज्ञानस्य विषयतानिरूपकत्वेन प्रकारतानिरूपकज्ञानत्वं सविकल्पकस्य लक्षणम्।

एवं विशेष्यतानिरूपकज्ञानत्वमित्यपि लक्षणं सम्भवति। उदाहरणम्-यथेति-इदन्त्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितडित्थत्वप्रकारताशालिज्ञानम्, इदन्त्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितब्राह्मणत्वप्रकारताशालिज्ञानं च सविकल्पकमित्यर्थः।

न्या०—सविकल्पकज्ञान का निरूपण करते हुए "सप्रकारकम्" इत्यादि लिखा। विषयता के ज्ञान से निरूपित होने से, तथा ज्ञान में विषयता

के निरूपकत्व के होने से (अर्थात् विषयता, ज्ञान से निरूपिता होती है, तथा ज्ञान; विषयता का निरूपक होता है। अतः) प्रकारता निरूपक ज्ञानत्व (प्रकारता का निरूपक जो ज्ञान, उसमें रहने वाला असाधारण धर्म ही) सविकल्पक का लक्षण है।

इसी प्रकार (विषयता के संसर्गता एवं विषयता रूप भी होने से "विशेष्यता निरूपक ज्ञानत्व" (उपलक्षण से "संसर्गता निरूपक ज्ञानत्व") यह भी सविकल्पकज्ञान का लक्षण सम्भव है (हो सकता है)। (मूलोक्त) उदाहरण "यथाडित्थोऽयम्" "यह ज्ञान इदन्त्व से अवच्छिन्ना जो विशेष्यता; उससे निरूपिता जो डित्थत्व में रहने वाली प्रकारता, उससे युक्त ज्ञान होने से; "ब्राह्मणोऽयम्" यह ज्ञान इदन्त्व से अवच्छिन्ना जो विशेष्यता उससे निरूपिता जो ब्राह्मणत्वनिष्ठा प्रकारता, उससे युक्त ज्ञान होने से (तथा श्यामोऽयम्" यह ज्ञान इदन्त्व से अवच्छिन्ना जो विशेष्यता, उससे निरूपिता जो श्यामत्व में रहने वाली प्रकारता, उससे युक्त ज्ञान होने से) सविकल्पकज्ञान है यह अभिप्राय है।

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः—संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः समवायः समवेतसमवायो विशेषणविशेष्यभावश्चेति।

त०—प्रत्यक्षज्ञान का हेतु (भूत) इन्द्रिय और अर्थ (पदार्थ) का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) छः प्रकार का होता है। संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव।

न्यायबोधिनी

चाक्षुषादिषड्विधप्रत्यक्षकारणीभूतान् षड्विधसन्निकर्षान्विभजते—संयोग-इत्यादि।

न्या—चाक्षुष आदि (चाक्षुष, रासन घ्राणज, स्पार्शन, श्रावण एवं मानस) प्रत्यक्ष के प्रति कारणीभूत (कारण) छः प्रकार के सन्निकर्षों का विभाग करते हुए "संयोगः" इत्यादि (मूल में) लिखा।

चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः ।

त०—चक्षु से घट का प्रत्यक्ष करते समय [चक्षु और घट का] संयोग सन्निकर्ष होता है ।

न्यायबोधिनी

द्रव्यवृत्तिलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुःसंयोगस्य कारणत्वम् ।

न्या०—द्रव्य में रहने वाली (जो लौकिक विषयता, उस) लौकिक विषयता सम्बन्ध से चाक्षुषत्व से अवच्छिन्नज्ञान के प्रति चक्षुः संयोग की कारणता है (अर्थात् यहाँ संयोग सम्बन्ध होता है) ।

घटरुपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रुपस्य समवायात् ।

त०—"घट रूप" के प्रत्यक्ष करने में (चक्षु एवं घटरूप का) संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है, चक्षु से संयुक्त घट में रूप का समवाय होने से । (अर्थात् चक्षुः संयुक्त घट में घटरूप समवायसम्बन्ध से रहता है अतः चक्षुः संयुक्त घट में घट रूप का समवाय है) ।

न्यायबोधिनी

द्रव्यसमवेतवृत्तिलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुः-संयुक्तसमवायस्य हेतुत्वम् ।

न्या०—द्रव्य समवेतवृतिलौकिकविषयता सम्बन्ध से चाक्षुषत्ववाछिन्न के प्रति चक्षुः संयुक्त समवाय (सम्बन्ध) का हेतुत्व है । अर्थात् द्रव्य में समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहने वाला) जो रूपादि उनमें रहने वाली जो लौकिक-विषयता, उस सम्बन्ध से जायमान, चाक्षुषत्व से अवच्छिन्न जो ज्ञान, उसके प्रति चक्षुः संयुक्त समवाय सम्बन्ध की हेतुता रहती है । (अर्थात् वहाँ चक्षु-रिन्द्रिय एवं अर्थ का संयुक्त समवाय सम्बन्ध होता है ।)

रुपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रुपं समवेतं तत्र रुपत्वस्य समवायात् ।

त०—रूपत्व सामान्य (जाति) के प्रत्यक्ष करते समय (चक्षुरिन्द्रिय एवं रूपत्व का) संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है। चक्षु से संयुक्त (संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध) जो घटादि, उसमें समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहने वाला) जो रूप उसमें रूपत्व के समवाय के होने से। (क्योंकि रूप में रूपत्व समवाय सम्बन्ध से रहता हैं)।

न्यायबोधिनी

द्रव्यसमवेतसमवेतवृत्तिलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायस्य हेतुत्वम् ।

द्रव्यग्राहकाणीन्द्रियाणि चक्षुस्त्वङ्मनांसि त्रीण्येव, अन्यानि घ्राणरसनश्रवणानि गुणग्राहकाणि । अतस्त्वगिन्द्रियस्थले द्रव्यवृत्तिलौकिकविषयतासम्बन्धेन त्वाचप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति त्वक्संयोगस्य हेतुता । एवं द्रव्यसमवेतत्वाचप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति त्वक्संयुक्तसमवायस्य हेतुता । द्रव्यसमवेतसमवेतोष्णत्वशीतत्वादिजातिस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवेतसमवायस्य हेतुता । एवमात्ममानसप्रत्यक्षे मनःसंयोगस्य हेतुता । आत्मसमवेतसुखादिमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवायस्य हेतुता । आत्मसमवेतसमवेतसुखत्वादिमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवेतसमवायस्य हेतुता । रसनघ्राणयोस्तु रसगन्धतद्गतजातिग्राहकत्वेन द्वितीयतृतीययोः सन्निकर्षयोरेव तत्र हेतुता वाच्या ।

न्या०—द्रव्य में जो समवेत, उसमें जो समवेत, उसमें रहने वाली जो लौकिकविषयता, उस लौकिक विषयता सम्बन्ध से चाक्षुषत्व से अवच्छिन्न जो ज्ञान, उसके प्रति चक्षुः संयुक्त समवेत समवाय की हेतुता रहती है। (अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से घटरूप में समवेत रूपत्व के प्रत्यक्ष के समय चक्षुरिन्द्रिय एवं घटरूपत्व का संयुक्त समवेतसमवाय सम्बन्ध होता है)।

(यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि) द्रव्य की ग्राहिका चक्षु त्वक् और मन ये केवल तीन ही इन्द्रियाँ हैं। शेष घ्राण, रसना और श्रवण ये तीन इन्द्रियाँ गुण की ग्राहिका हैं। अतः—

त्वगिन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष स्थल में द्रव्य में रहने वाली जो लौकिक विषयता, उस लौकिकविषयतासम्बन्ध से त्वाचप्रत्यक्ष से अवच्छिन्न ज्ञान के प्रति त्वक्संयोग की हेतुता है। एवं द्रव्य में समवेत जो त्वाचप्रत्यक्ष, तद्वृत्ति जो त्वाचप्रत्यक्षत्व, उससे अवच्छिन्न जो त्वाचप्रत्यक्षविषयक ज्ञान, उसके प्रति त्वक्संयुक्तसमवायसम्बन्ध की हेतुता है। द्रव्यसमवेत समवेत (द्रव्य में समवेत जो शीत, उष्ण आदि गुण, उनमें समवेत जो) शीतत्व, उष्णत्व आदि जाति, उसके स्पार्शन प्रत्यक्ष में त्वक् संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध की हेतुता है। एवं आत्मा के मानस प्रत्यक्ष स्थल में मनः संयोगकी हेतुता, आत्मसमवेत (आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले) सुख-दुःख आदि के प्रत्यक्ष में मनः संयुक्त समवाय सम्बन्ध की हेतुता, आत्मसमवेतसमवेत (आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले सुख दुःख आदि में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले) सुखत्व दुःखत्व (जाति) के मानस प्रत्यक्ष में मनःसंयुक्तसमवेतसमवांय सम्बन्ध की हेतुता है। रसना और घ्राण (के द्वारा प्रत्यक्ष स्थल) में रस एवं गन्ध तथा उनमें रहने वाली रसत्व और गन्धत्व जातियों के ग्राहकत्व रूप में द्वितीय एवं तृतीय (संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय) सन्निकर्षों की ही हेतुता समझनी चाहिए।

(क्योंकि रस एवं गन्ध गुण है। अतः कहीं न कहीं समवेत रहेंगे अतः उनके साथ घ्राण एवं रसना का संयोग नहीं बनेगा)।

श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः, कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वाच्छब्दस्याकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्।

त०—श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द के साक्षात्कार में समवाय सन्निकर्ष होगा। क्योंकि—कर्णविरवर्त्ति आकाश के ही श्रोत्रत्व के होने से (अर्थात् कर्णविरवर्ति आकाश ही श्रोत्र है) तथा शब्द के आकाश का गुण होने के कारण गुण और गुणियों का समवायसम्बन्ध ही होने से (आकाश=श्रोत्र और शब्द का समवाय सम्बन्ध ही होगा)।

न्यायबोधिनी

श्रवणेन्द्रियस्याकाशरूपत्वेन शब्दस्याकाशगुणत्वेन श्रवणेन्द्रियेण समं समवायः सन्निकर्षः ।

न्या०—श्रवणेन्द्रिय के आकाश रूप होने से तथा शब्द के आकाश का गुण होने से श्रवणेन्द्रिय के साथ शब्द का समवाय सम्बन्ध ही होगा ।

शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात् ।

त०—शब्दत्व के साक्षात्कार में समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है । श्रोत्र में समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहने वाले) शब्द में शब्दत्व के समवाय के कारण ।

न्यायबोधिनी

शब्दवृत्तिशब्दत्वकत्वखत्वादिजातिविषयकश्रावणप्रत्यक्षे समवेतसमवायस्य-हेतुता च बोध्या ।

न्या०—शब्द वृत्ति (ककार आदि शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली) कत्व खत्व आदि जो शब्दत्व जातियाँ, तद्विषयक (उनके) श्रावण प्रत्यक्ष में समवेत समवाय सम्बन्ध की हेतुता समझनी चाहिए ।

अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः, घटाभाववद्-भूतलमित्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात् ।

त०—अभाव के प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) में (अभाव और इन्द्रिय का) विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध (होता) है । "घटाभाववद् भूतलम्" यहाँ पर चक्षुः संयुक्तभूतल में घटाभावत्व के विशेषणत्व से । [अर्थात् "घट के अभाव वाला भूतल हैं" इस प्रत्यक्ष ज्ञान में चक्षु से संयुक्त (संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध) भूतल में घटाभाव विशेषण के रूप में ही है] ।

न्यायबोधिनी

अभावप्रत्यक्ष इति । अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावो नाम विशेषणता-सन्निकर्षः । पञ्चविधसन्निकर्षेषु मध्ये संयोगस्थाने संयुक्तपदं समवायस्थाने समवेतपदं च घटयित्वा अभावस्थले निर्वाह्यम् । तथाहि—द्रव्याधिकरणकाभाव-प्रत्यक्षे इन्द्रियसंयुक्तविशेषणता । द्रव्यसमवेताधिकरणकाभावप्रत्यक्षे इन्द्रिय-संयुक्तसमवेतविशेषणता । द्रव्यसमवेतसमवेताधिकरणकाभावप्रत्यक्षे इन्द्रिय-संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता च सन्निकर्षः । तत्र घटे पटत्वाभावः संयुक्त-विशेषणतया गृह्यते । घटसमवेतघटत्वादौ पृथिवीत्वाभावः संयुक्तसमवेतविशेष-णतया गृह्यते । घटसमवेतसमवेतरूपत्वादौ नीलत्वाभावश्च संयुक्तसमवेतसम-वेतविशेषणतया गृह्यत इति सङ्क्षेपः ।

न्या०—अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और अभाव का विशेषणविशेष्यभाव नाम का विशेषणता सन्निकर्ष (होता) है । विशेष्यविशेषणभाव से अति-रिक्त) पाँचों सन्निकर्षों में से संयोग और समवाय के स्थान पर संयुक्त और समवेत पद की योजना करके अभाव स्थल में निर्वाह कर लेना चाहिए । (अर्थात् विशेषणता या विशेष्यता सम्बन्ध पारम्परिक सम्बन्ध हैं । उनके बीच में पाँचों सम्बन्धों में से कोई न कोई दूसरा सम्बन्ध अवश्य रहता है । जैसे ''घटवद् भूतलम्'' में घट विशेषण है तथा भूतल विशेष्य है । यहाँ ''भूतल एवं घट'' रूप विशेष्य और विशेषण के मध्य संयोग सम्बन्ध है । इसी प्रकार प्रत्येक स्थान पर विशेष्य विशेषण भाव के अन्तर्गत उसके अतिरिक्त पाँचो में से कोई न कोई एक सम्बन्ध अवश्य रहता ही है । अतः जहाँ संयोग सम्बन्ध हो वहाँ 'संयुक्त' एवं जहाँ समवाय सम्बन्ध हो वहाँ 'समवाय' पद का प्रयोग करते हुए विशेष्यता विशेषणता शब्द का निर्वचन करना चाहिए) ।

जैसे द्रव्याधिकरणक (द्रव्य में रहने वाले) अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय-संयुक्त विशेषणता (सम्बन्ध) होगा । [क्योंकि इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्य में अभाव-विशेषण है । द्रव्य में समवेत जो अर्थ, रूप आदि, उस रूप आदि के अधिकरण में रहने वाले अभाव मात्र के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयुक्तसमवेत विशेषणता सम्बन्ध होगा । (क्योंकि यहाँ इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्य में समवेत जो शुक्ल नील आदि

रूप उसमें अभाव विशेषण रहेगा)। द्रव्य में जो समवेत रूप आदि, उसमें समवेत जो रूपत्व आदि, उसमें रहने वाले अभाव के प्रत्यक्ष स्थल में इन्द्रिय-संयुक्तसमवेत समवेत विशेषणता सम्बन्ध होता है। (क्योंकि वहाँ पर इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्य में समवेत जो रूप आदि, उसमें समवेत जो रूपत्व, उसमें वह अभाव विशेषण होगा)।

इसी प्रकार घट में रहने वाला जो पटत्वाभाव, वह संयुक्तविशेषणतया गृहीत होगा (क्योंकि इन्द्रिय से संयुक्त घट में पटत्वाभाव विशेषणीभूत है)। घट में समवेत जो घटत्व आदि उसमें रहने वाला जो पृथिवीत्वाभाव, वह संयुक्तसमवेतविशेषणतया गृहीत होगा। (क्योंकि इन्द्रिय संयुक्त होगा घट, उसमें समवेत है घटत्व, उसमें पृथिवीत्वाभाव विशेषणीभूत है)। घट में समवेत जो घटरूप उसमें समवेत जो रूपत्व आदि, उनमें रहने वाला नीलत्वाभाव संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता सम्बन्ध से गृहीत होगा। (क्योंकि इन्द्रिय संयुक्त होगा घट, उसमें समवेत है घटरूप, उसमें समवेत है रूपत्व, उसमें नीलत्वाभाव विशेषणीभूत है। इस प्रकार इस संक्षिप्त निदर्शन के अनुसार तत्तद्विशेषणतासम्बन्धरूप विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से अभावों का ग्रहण होना समझ लेना चाहिए।

विशेष—यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि, विशेष्य-विशेषणभावस्थल में विशेष्य का विशेष्यता सम्बन्ध से तथा विशेषण का विशेषणता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है। परन्तु यह विशेषणता या विशेष्यता सम्बन्ध पूर्व कथन के अनुसार विशेषण विशेष्यभाव से अतिरिक्त पाँचो में से किसी न किसी एक सम्बन्ध से युक्त ही रहता है (पारम्परिक ही होता है स्वतन्त्र नहीं)। अभाव के विषय में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है, कि अभाव का प्रत्यक्ष यत्किञ्चित् अधिकरणक ही होता है। अर्थात् किसी न किसी अधिकरण में ही अभाव का प्रत्यक्ष होता है। तब वह अभाव हमेशा अपने अधिकरण के प्रति विशेषण ही रहेगा। अतः उसका प्रत्यक्ष विशेषणता सम्बन्ध से ही होगा। अतः अभाव की प्रत्यक्ष वेला में होने वाले विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष का न्यायबोधिनीकार ने विशेषणता सम्बन्ध के नाम से ही कथन

किया है। इस प्रकार विशेषणविशेष्यरूप भाव पदार्थ के प्रत्यक्ष स्थल में विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष यत्किञ्चिदन्यसम्बन्ध घटित विशेष्यता या विशेषणतारूप भले पड़े, पर अभाव के प्रत्यक्ष स्थल में वह विशेषणता रूप ही पड़ेगा। लेकिन भावरूप विशेषण एवं विशेष्यों का ग्रहण तो अन्य सन्निकर्षों से हो ही जाता है। केवल अभाव रूप विशेषण का ज्ञान नहीं हो पाता, अभाव के प्रत्यक्ष के लिए ही विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष मानना पड़ता है तथा वह विशेषणता रूप ही होता है। विस्तार भय एवं अनुपयुक्तता का विचार कर यहाँ विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध के खण्डन-मण्डन सम्बन्धी विचार नहीं दिए जा रहे हैं।

एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं तत्करणमिन्द्रियं, तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्।

त०—इस प्रकार इन पूर्व वर्णित छः प्रकार के सन्निकर्षों से जन्य जो ज्ञान, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है; तथा उसका करण इन्द्रियाँ ही हैं। अतः इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्षप्रमाण हुई (क्योंकि प्रत्यक्षप्रमा के करण को ही प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं) यह सिद्ध होता है।

प्रत्यक्षपरिच्छेद समाप्त

अथानुमानपरिच्छेदः

अनुमितिकरणमनुमानम् ।

त०—अनुमिति के करण को अनुमान कहते हैं ।

न्यायबोधिनी

अनुमानं लक्षयति—अनुमितीति । अनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं परामर्शो व्यापारः, अनुमितिः फलं कार्यमित्यर्थः । परामर्शस्य व्याप्तिज्ञानजन्यत्वे सति व्याप्तिज्ञानजन्यानुमितिजनकत्वात्तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वरूपव्यापारत्वमुपपन्नम् । अनुमितिकरणत्वमनुमानस्य लक्षणम् । अनुमानं व्याप्तिज्ञानम् । एतस्य परामर्शरूपव्यापारद्वारा अनुमितिं प्रत्यसाधारणकारणतयाऽनुमितिकरणत्वमुपपन्नम् ।

न्या०—अनुमान का निर्वचन करते हुए "अनुमितिकरणम्" इत्यादि मूल में लिखा । इस प्रकार अनुमिति में व्याप्तिज्ञान करण है, परामर्श व्यापार है, तथा अनुमिति प्रमा यह फल है अर्थात् कार्य है । व्याप्तिज्ञान से जन्य होते हुए व्याप्तिज्ञान से जन्या जो अनुमिति, उसका जनक होने के कारण "तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनक-रूप व्यापार के लक्षण के परामर्श में समन्वय होने से परामर्श का व्यापारत्व सिद्ध होता है । अतः अनुमितिकरणत्व अनुमान का लक्षण सिद्ध होता है । अनुमान व्याप्तिज्ञान को कहते हैं । क्योंकि परामर्श के द्वारा अनुमिति के प्रति असाधारण कारण होने के कारण व्याप्तिज्ञान का अनुमितिकरणत्व सिद्ध होता है । (अर्थात् परामर्शरूप व्यापार के कारण व्यापारवान् एवं अनुमिति के प्रति असाधारण कारण होने से व्यापारवद् असाधारण कारण होने से व्याप्तिज्ञान का अनुमिति के प्रति करणत्वसिद्ध होता है ।)

[इस प्रकार अनुमिति की परामर्शजन्यता का भी परिचय हो जाता है, अतः अनुमिति का निरूपण करते हुए आगे का मूल लिखा—]

परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः ।

त०—परामर्श से जन्य (प्रमा) ज्ञान ही अनुमिति है ।

न्यायबोधिनी

परामर्शजन्यमिति । परामर्शजन्यत्वविशिष्टज्ञानत्वमनुमितेर्लक्षणम् । अत्र ज्ञानत्वमात्रोपादाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिः, अतस्तद्वारणाय परामर्शजन्यत्वे सतीति विशेषणोपदानम् । परामर्शजन्यत्वमात्रोक्तौ परामर्शध्वंसेऽतिव्याप्तिरतस्तद्वारणाय ज्ञानत्वोपादानम् ।

न्या०—[इस प्रकार] "परामर्शजन्यत्व से विशिष्ट ज्ञानत्व" यह अनुमिति का लक्षण फलित होता है । यहाँ ज्ञानत्वमात्र ही यदि अनुमिति के लक्षण में रखेंगे तो इस लक्षण की प्रत्यक्ष आदि सभी ज्ञानों में अतिव्याप्ति होगी । (क्योंकि ज्ञानमात्र में ज्ञानत्व उपलब्ध होगा ।) अतः उक्त दोष के वारण के लिए "परामर्शजन्यत्वे सति" यह विशेषणांश लक्षण में दिया गया है । यदि "परामर्शजन्यत्व" इतना ही अनुमिति का लक्षण किया जाय तो परामर्शध्वंस में भी लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । [क्योंकि परामर्शध्वंस भी परामर्शजन्य ही है । क्योंकि परामर्श ही यदि न हो, तो उस का ध्वंस ही कैसे होगा ? अतः ध्वंस के प्रति ध्वंस के प्रतियोगी को कारण माना जाता है]

व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः । यथा वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं परामर्शः । तज्जन्यं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिः ।

त० - व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान [ही] परामर्श [कहलाता] है । जैसे 'पर्वत वह्निव्याप्यधूमवान् है' यह ज्ञान परामर्श है और उस से जायमान 'यह पर्वत वह्निमान् है' जो ज्ञान, वह अनुमिति है ।

न्यायबोधिनी

अनुमितिलक्षणघटकीभूतपरामर्शलक्षणमाचष्टे—व्याप्तिविशिष्टेति । व्याप्तिविशिष्टं च तत्पक्षधर्मताज्ञानमिति कर्मधारयः । अत्र विशिष्टपदस्य प्रकारता-

निरूपकपरत्वात्पक्षधर्मताया ज्ञानमित्यत्र षष्ठ्या विषयत्वबोधनात् धर्मतापदस्य सम्बन्धार्थकत्वात् कर्मधारयसमासेन समस्यमानपदार्थयोरभेदसंसर्गलाभाच्च व्याप्तिप्रकारकाभिन्नं यत्पक्षसम्बन्धिविषयकं ज्ञानं तत्परामर्श इति लभ्यते। एवं सति धूमो वह्निव्याप्यः आलोकवान्पर्वतः इत्याकारकसमूहालम्बनेऽप्युक्तपरामर्श-लक्षणमस्तीत्यतिव्याप्तिस्तद्वारणाय पक्षनिष्ठविशेष्यतानिरूपिता या हेतुनिष्ठा प्रकारता तन्निरूपिता या व्याप्तिनिष्ठा प्रकारता तच्छालिज्ञानं परामर्श इति निष्कर्षः। एतादृशपरामर्शजन्यत्वे सति ज्ञानत्वमनुमितेर्लक्षणम्। अनुमितिपरामर्शयोर्विशिष्य कार्यकारणभावश्चेत्थम्—पर्वतत्वावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपितसंयोग-सम्बन्धावच्छिन्नवह्नित्वावच्छिन्नविधेयताकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितव्याप्तित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या धूमत्वावच्छिन्नप्रकारता तन्निरूपितपर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताशालिनिर्णयः कारणम्। वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितव्याप्तित्वावच्छिन्नविशेष्यतायाः धूमत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितव्याप्तित्वावच्छिन्नप्रकारतायाश्चाभेदानङ्गीकर्तृमते वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वावच्छिन्नव्याप्तित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वावच्छिन्नधूमत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताशालिनिश्चयः कारणमिति वाच्यम्, स च निर्णयः 'वह्निव्याप्यधूमवान्पर्वत' इत्याकारको बोध्यः।

न्या०—अनुमिति के लक्षण में आए हुए परामर्श का निरूपण करते हुए मूलकार ने 'व्याप्तिविशिष्ट' इत्यादि लिखा। 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' यहाँ पर व्याप्तिविशिष्टं च तत्पक्षधर्मताज्ञानम् यह कर्मधारय समास है। तथा यहाँ का 'विशिष्ट' पद प्रकारतानिरूपकपरक है। 'पक्षधर्मताज्ञानम्' में 'पक्षधर्मताया ज्ञानम्' (ऐसा षष्ठी समास होने से) यहाँ पर षष्ठी से विषयत्व का बोध होने से, धर्मता पद के सम्बन्धार्थक होने से तथा कर्मधारय समास होने के कारण समस्यमान पदार्थों में अभेद सम्बन्ध के होने से—[व्याप्ति हो प्रकार अर्थात् विशेषण जिसमें, उसे व्याप्तिप्रकारक कहते हैं।] व्याप्तिप्रकारक से अभिन्न जो पक्षसम्बन्धिविषयक ज्ञान, वह परामर्श है, इस अर्थ का लाभ होता है। परन्तु इस प्रकार के परामर्श के लक्षण को स्वीकार करने पर 'धूम वह्निव्याप्य है

पर्वत आलोकवान् है' इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान में भी लक्षण की अति-व्याप्ति होती है। अतः इस दोष के वारण के लिए 'पक्ष में रहनेवाली जो विशेष्यता, उस से निरूपिता जो हेतु में रहने वाली प्रकारता, उस से निरूपिता जो व्याप्ति में रहने वाली प्रकारता, उस से युक्त जो ज्ञान, वही परामर्श है, यह निष्कर्ष समझना चाहिए। इस प्रकार के 'परामर्श से जन्यत्व होते हुए ज्ञानत्व' यह अनुमिति का लक्षण होगा।

अनुमिति और परामर्श में कार्य कारण भाव इस प्रकार का होगा—

पर्वतत्व से अवच्छिन्ना जो उद्देश्यता, उस से निरूपिता जो संयोगसम्बन्ध एवं वह्नित्व से अवच्छिना विधेयता वह विधेयता हो जिस अनुमिति में, उस "पर्वतो वह्निमान्" अनुमिति के प्रति 'वह्निव्याप्यधूमवान् यह पर्वत है' इस प्रकार का वह्नित्व से अवच्छिन्न जो प्रकारता, उस से निरूपिता जो धूमत्व से अवच्छिन्न प्रकारता, उस से निरूपिता जो पर्वतत्व से अवच्छिन्ना विशेष्यता उससे युक्त जो निर्णय, वह कारण है। वह्नित्व से अवच्छिन्ना जो प्रकारता, उस से निरूपिता जो व्याप्तित्व से अवच्छिन्न विशेष्यता; तथा धूमत्व से अवच्छिन्ना जो विशेष्यता, उससे निरूपिता जो व्याप्तित्व से अवच्छिन्ना प्रकारता इन दोनों का जो अभेद नहीं मानते हैं, [समानाधिकरण प्रकारताविशेष्यतयोरभेद इति जगदीशः। अवच्छेद्यावच्छेदकभाव इति गदाधरः।] उनके मत में—वह्नित्व से अवच्छिन्ना जो प्रकारता, उससे निरूपिता जो [व्याप्ति में रहनेवाली] विशेष्यता, उस के अवच्छेदक (विशेष्यत्व) धर्म से अवच्छिन्ना जो व्याप्तित्व से अवच्छिन्ना प्रकारता, उस से निरूपिता जो (धूम में रहनेवाली) विशेष्यता, उस के अवच्छेदक (विशेष्यत्व) धर्म से अवच्छिन्ना जो धूमत्व से अवच्छिन्ना प्रकारता उससे निरूपिता जो पर्वतत्व से अवच्छिन्ना विशेष्यता, उस से युक्त जो निर्णय, वह कारण होता है। 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत है' यही उस निर्णयका स्वरूप समझना चाहिए।

यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।

त०—'जहाँ जहाँ धूम रहता है, वहाँ वहाँ अग्नि रहती हैं' यह जो साहचर्य का नियम हैं, वही व्याप्ति है।

न्यायबोधिनी

यत्र यत्रेति । यत्र पदवीप्सा धूमाधिकरणे यावति वह्निमत्त्वलाभाय । यावत्पदमहिम्ना वह्नेर्धूमव्यापकत्वं लब्धम् । तदेव स्पष्टयति—साहचर्यनियम इति । एतदर्थस्तु नियतसाहचर्यं व्याप्तिरिति । नियतत्वं व्यापकत्वम् । साहचर्यं (नाम) सामानाधिकरण्यम्, तथा च धूमनियतवह्निसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरित्यर्थः । अत्र वह्नेर्धूमव्यापकत्वं नाम धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वम् । तथाहि—धूमाधिकरणे पर्वतचत्वरमहानसादौ वर्तमानो योऽभावः घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकः, न तु वह्नित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः, कुतः ? पर्वतादौ वह्नेः सत्त्वात्, एवं सति धूमाधिकरणे पर्वतचत्वरादौ वर्तमानस्य घटाद्यभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकम् घटत्वादिकमनवच्छेदकम् वह्नित्वं तद्वत्त्वं वह्नौ वर्ततेऽतो धूमव्यापकत्वं वह्नौ वर्तते । तथा च धूमव्यापकवह्निसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति फलितमिति । इयमन्वयव्याप्तिः सिद्धान्तानुसारेण । पूर्वपक्षव्याप्तिस्तु साध्याभाववदवृत्तित्वम् । साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नवैयधिकरण्यावच्छिन्नाभाववन्निरूपितहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तितात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो व्याप्तिरित्यर्थः । तच्च केवलान्वयिन्यव्याप्तमिति सिद्धान्तानुसरणम् ।

न्या०—यत्र पद की वीप्सा अर्थात् 'जहाँ जहाँ' यह द्विरुक्ति जितने धूम के अधिकरण हैं, वहाँ वहाँ वह्निमत्त्व (वह्नि के अधिकरणत्व) के लाभ के लिए है । इस प्रकार यावत् पद की महिमा से धूम के प्रति वह्नि की व्यापकता का लाभ होता है । इसी को स्पष्ट करते हुए मूलकार ने 'साहचर्यनियमो व्याप्तिः' यह कहा है । इसका यह अर्थ है कि नियतसाहचर्य ही व्याप्ति है । (नियत व्यापक को कहते हैं, इस प्रकार) नियतत्व व्यापकत्व है । तथा सामानाधिकरण्य (एक अधिकरण में रहने) को ही साहचर्य कहते हैं । इस प्रकार धूम का नियत (अर्थात् व्यापकीभूत) जो वह्नि, उसका सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है यह अभिप्राय हुआ । यहाँ पर धूम का समानाधिकरण (धूम के अधिकरण में रहनेवाला) जो अत्यन्ताभाव, उसकी प्रतियोगिता का

अनवच्छेदक (जो अवच्छेदक न हो) जो धर्म, तद्वत्त्व यही वह्नि में धूम की अपेक्षा व्यापकत्व है। जैसे धूम के अधिकरण पर्वत, चत्वर, महानस आदि में विद्यमान जो अभाव, (घटाभाव) वह घटत्व आदि से अवच्छिन्न प्रतियोगितावाला है। न कि वह्नित्व से अवच्छिन्नप्रतियोगितावाला है। क्यों कि पर्वत आदि में वह्नि है, [न कि उसका अभाव है]। इस प्रकार धूम के अधिकरण पर्वत आदि में वर्तमान जो घटादि का अभाव, उसका प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादिक धर्म होंगे, वह्नित्व धर्म अनवच्छेदक होगा। तद्धर्मवत्ता (वह्नित्ववत्ता) वह्नि में है, अर्थात् वह वह्नित्व वह्नि में ही रहेगा। अतः धूम की अपेक्षा वह्नि में व्यापकता है। इस प्रकार धूम का व्यापक जो वह्नि, उस का (धूम के साथ) सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति फलित होती है।

यह अन्वयव्याप्ति सिद्धान्तव्याप्ति कही गई है। पूर्व पक्ष के अनुसार 'साध्याभाववदवृत्तित्व' यह व्याप्ति का स्वरूप है। [अर्थात् साध्य के अभाव के अधिकरण में हेतु का न रहना जैसे 'पर्वतवह्निमान् है धूमवान् होने से' यहाँ पर साध्य है वह्नि, उसका अभाव होगा वह्न्यभाव, उसका अधिकरण होगा जलह्रदादि वहाँ मीन आदि होंगे, न कि धूम रूप हेतु। अर्थात् यहाँ पर साध्याभाव-वह्न्यभाव के जो अधिकरण जलह्रदादि, उनमें हेतु (धूम) की अवृत्तिता है। अतः वह्निनिरूपिता व्याप्ति धूम में है।]

(इस प्रकार) साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से अवच्छिन्ना और साध्यतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्ना जो प्रतियोगिता, उस प्रतियोगिता का निरूपक जो प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से अवच्छिन्न, प्रतियोगितावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न' वैयधिकरण्य से अवच्छिन्न अभाव उसके अधिकरण से निरूपित हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से अवच्छिन्न' जो वृत्तित्व, उस में रहने वाला जो वृत्तितात्व, उससे अवच्छिन्ना जो वृत्तित्व में रहने वाली प्रतियोगिता; उसका निरूपक जो अभाव, वही व्याप्ति है, यह अर्थ है। यह व्याप्ति केवलान्वयि हेतु में अव्याप्त है, इसलिए सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है। [अर्थात् यह व्याप्ति केवलान्वयि में अव्याप्त होने से पूर्वपक्ष की व्याप्ति है' अतः यह सिद्धान्तव्याप्ति नहीं मानी जा सकती, बल्कि पूर्वोक्त व्याप्ति को ही सिद्धान्त व्याप्ति समझना चाहिए।]

व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता ।

त०—व्याप्य (धूमादि) का पर्वतादि में रहना ही पक्षधर्मता है ।

अनुमानं द्विविधं—स्वार्थं परार्थं च ।

त०—अनुमान दो प्रकार का होता है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान ।

न्यायबोधिनी

अनुमानं विभजते—स्वार्थमिति ।

न्या०—अनुमान का विभाग करने हुए 'स्वार्थ परार्थम्०' आदि कहा ।

स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः, तथाहि—स्वयमेव भूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति—'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति । तदनन्तरं वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानमुत्पद्यते, अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते । तस्मात् पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते । तदेतत्स्वार्थानुमानम् ।

त०—अपनी अनुमिति के हेतु को स्वार्थानुमान कहते हैं । (अर्थात् जहाँ अनुमान के द्वारा किसी बात की स्वयं जानकारी की जाय' उसे स्वार्थानुमान कहते हैं ।) जैसे स्वयं ही कई बार के देखने से—जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ आग रहती है' इस प्रकार की व्याप्ति का महानस (रसोईघर) आदि में ग्रहण करने के बाद कोई व्यक्ति जब पर्वत के समीप जाता है, तथा वहाँ पर्वत पर अग्नि का सन्देह करते हुआ [कि यहाँ अग्नि है या नहीं] वह पर्वत पर धूम को देखता है, तब उसे [पूर्वगृहीत] व्याप्ति का स्मरण हो आता है कि जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ आग रहती हैं' । उसके बाद 'वह्नि-व्याप्य धूमवान् (वह्नि का व्याप्य जो धूम, उस से युक्त) यह पर्वत है' इस

प्रकार का ज्ञान प्रमाता को होता है। यही ज्ञान लिङ्ग परामर्श कहलाता है। उसके बाद (अर्थात् उस लिङ्ग परामर्श से ही पैदा होनेवाला)" यह पर्वत वह्निमान् है" (आगवाला है इसमें आग है) इस प्रकार का ज्ञान होता है। इसी को अनुमिति कहते हैं। इस प्रकार की अनुमिति का कारण जो अनुमान' (व्याप्तिज्ञान) वही स्वार्थानुमान कहलाता है।

न्यायबोधिनी

स्वार्थानुमानं नाम न्यायाप्रयोज्यानुमानम्।

न्या०—इस प्रकार न्याय से अप्रयोज्य जो अनुमान' वह स्वार्थानुमान कहलाता है। [न्याय, अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन, इनकी आवश्यकता जिस अनुमान में न पड़ेगा, वह अनुमान न्यायाप्रयोज्य होगा तथा उसे ही स्वार्थानुमान कहते हैं।]

यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते तत्परार्थानुमानम्। यथा पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात्तथेति। अनेन प्रतिपादितालिङ्गात्परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते।

त०—जिसमें स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान कर लेने के बाद दूसरे को भी उसे बताने की दृष्टि से पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग किया जाता है, उस अनुमान को परार्थानुमान कहते हैं। जैसे पर्वत आगवाला है, धूमवाला होने से, जो जो धूमवाला होता है, वह वह आगवाला भी होता है, जैसे महानस, वैसे ही (अर्थात् धूमवाला) यह पर्वत भी है अतः) यह पर्वत भी आगवाला है। इस प्रकार प्रतिपादित वाक्य रूप लिङ्ग से दूसरा आदमी भी 'पर्वत में आग है' यह जान लेता है।

न्यायबोधिनी

न्यायप्रयोज्यानुमानं परार्थानुमानम्। न्यायत्वं च प्रतिज्ञाद्यवयवपञ्चकसमुदायत्वम्। अवयवत्वं च प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वम्।

न्या०—न्यायप्रयोज्य अनुमान परार्थानुमान कहलाता है। (अर्थात् जिस अनुमान में न्याय=प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन, इन पाँच वाक्यों का प्रयोग किया जाता है, उस अनुमान को परार्थानुमान कहते हैं।] इस प्रकार प्रतिज्ञादि अवयवपञ्चक का जो समुदायत्व वही न्यायत्व है। तथा प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्व ही अवयवत्व है।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। यो यो धूमवान् स स वह्निमानित्युदाहरणम्। तथा चायमित्युपनयः। तस्मात्तथेति निगमनम्।

त०—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये ही (परार्थानुमान में प्रयुक्त वाक्य के) पाँच अवयव हैं। "पर्वत आगवाला है" यह प्रतिज्ञा है "धूमवाला होने से" यह हेतु है। "जो जो धूमवाला रहता है, वह वह आगवाला होता है, जैसे रसोईघर" यह उदाहरण है। "यह भी (पर्वतादि) वैसा ही (धूमवाला है") यह उपनय है "अतः यह (पर्वत) भी वैसा अर्थात् आगवाला है" यह निगमन है।

स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।

त०—स्वार्थानुमिति एवं परार्थानुमिति, इन दोनों का लिङ्गपरामर्श ही करण है अतः लिङ्गपरामर्श ही अनुमान है, ऐसा कहते हैं।

लिङ्गं त्रिविधम्—अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति।

त०—लिङ्ग (हेतु) तीन प्रकार का होता है—अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि।

अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि, यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। यत्र धूमस्तत्राग्नियेथा महानसमित्यन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा ह्रद इति व्यतिरेकव्याप्तिः।

त०—(इन तीनों में) अन्वय एवं व्यतिरेक इन दोनों व्याप्तियों से युक्त जो हेतु, वह अन्वयव्यतिरेकि कहलाता है। जैसे वह्नि के साध्य रहने पर जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ आग है, जैसे रसोईघर में' यह अन्वयव्याप्ति है। (तथा) 'जहाँ वह्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे ह्रद में' यह व्यतिरेकव्याप्ति है। (अतः इन दोनों व्याप्तियों से युक्त होने के कारण यहाँ का धूम हेतु अन्वयव्यतिरेक सिद्ध होता है।)

न्यायबोधिनी

अन्वयेनेति। व्यापकसामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिमानित्यर्थः। व्यतिरेकेणेति। व्यतिरेको नामाभावः। तथा च साध्याभावहेत्वभावयोर्व्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिः। इयं च व्याप्तिः 'यत्र यत्र वह्नयभावस्तत्र तत्र धूमाभाव' इति। यत्रपदवीप्सया वह्नयभाववति यावति धूमाभावग्रहणे यावत्पदस्य व्यापकत्वापरतया धूमाभावे वह्नयभाववव्यापकत्वं लभ्यते। वह्नयभावे धूमाभाववव्याप्यत्वं च लभ्यते।

एवं च वह्नयभावनिष्ठव्याप्तेः स्वाश्रयीभूतवह्नयभाववव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वसम्बन्धेनधूमनिष्ठतया व्यतिरेकव्याप्तिमत्त्वेन धूमव्यापकवह्निसामानाधिकरण्यरूपान्वयव्याप्तिमत्त्वेन चान्वयव्यतिरेकित्वो गीयते। व्यतिरेकपरामर्शस्तु वह्नयभाववव्यापकीभूताभावप्रतियोगिधूमवान्पर्वत इत्याकारकः।

न्या०—अन्वयव्याप्तिमान् का व्यापकसामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिमान् यह अर्थ है। (अर्थात् हेतु का व्यापक जो साध्य, तत्सामानाधिकरण्यरूप जो व्याप्ति उससे युक्त जो (हेतु) वही अन्वयव्याप्तिमान् हेतुहोगा।)

व्यतिरेक अभाव को कहते हैं। इस प्रकार साध्याभाव और हेत्वभाव की व्याप्ति (साहचर्य नियम=सामानाधिकरण्य) को ही व्यतिरेकव्याप्ति

कहते हैं। जैसे-जहाँ जहाँ वह्नि नहीं रहेगा, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं रहेगा; यह व्याप्ति व्यतिरेकव्याप्ति है। (इस प्रकार अन्वयव्याप्ति में हेतु एवं साध्य का साहचर्य होता है, तथा व्यतिरेकव्याप्ति में साध्याभाव एवं हेत्वभाव का साहचर्य होता है तथा जिस प्रकार अन्वयव्याप्ति में 'यत्र' पद की वीप्सा से वह्नि में धूम के व्यापकत्व का लाभ होता है, उसी प्रकार यहाँ व्याप्ति में भी 'यत्र' पद की वीप्सा से वह्नि के अभाव के सकल अधिकरण में धूमाभाव के ग्रहण होने से यावत्पद, व्यापकपरक सिद्ध होता है। इस प्रकार धूमाभाव में वह्न्यभाव के व्यापकत्व का लाभ होता है। (अर्थात् धूमाभाव वह्न्यभाव की अपेक्षा व्यापक है, यह प्रसिद्ध है।) इस प्रकार वह्न्यभाव में रहनेवाली व्याप्ति के; स्वव्यतिरेकव्याप्ति, उसके आश्रयीभूत=आश्रय जो वह्न्यभाव, उसका व्यापकीभूत=व्यापक जो अभाव=धूमाभाव, (उसका प्रतियोगित्व धूम में है, अतः) तत्प्रतियोगित्व (धूमाभावप्रतियोगित्व) सम्बन्ध से धूम में रहने के कारण [धूम रूप हेतु के व्यतिरेक व्याप्ति से युक्त होने से, उसमें] व्यतिरेक व्याप्तिमत्त्व के होने से तथा धूम का व्यापक जो वह्नि, उसका सामानाधिकरण्यरूप जो अन्वयव्याप्ति, (उससे युक्त होने के कारण धूम रूप हेतु में) तद्वत्ता होने से (अन्वयव्याप्तिमत्त्व के होने से) धूम रूप हेतु को अन्वयव्यतिरेकत्व कहा जाता है। अर्थात् धूम रूप हेतु अन्वयव्यतिरेकि कहा जाता है। [व्यतिरेकि लिङ्ग (हेतु) से होने वाला] व्यतिरेक परामर्श तो—वह्न्यभाव का व्यापकीभूत [=व्यापक] जो अभाव=[धूमाभाव] तत्प्रतियोगि जो धूम, उससे युक्त यह पर्वत है, इस प्रकार का होगा। [वह्नि का व्याप्य जो धूम, उससे युक्त यह पर्वत है, इस आकार का अन्वय परामर्श तो पहले ही बताया जा चुका है।

अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च।

त०—मात्र (केवल) अन्वयव्याप्ति से युक्त लिङ्ग (हेतु) केवलान्वयि कहलाता है। जैसे 'घट अभिधेय (कहनेयोग्य) है, प्रमेयत्व (ज्ञान का विषय)

के होने से'। (यहाँ का प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयि है, क्योंकि) यहाँ न्यायमत में सभी पदार्थों में प्रमेयत्व एवं अभिधेयत्व के होने से (उसके अभाव की अप्रसिद्धि के कारण) प्रमेयत्व एवं अभिधेयत्व की व्यतिरेक व्याप्ति नहीं है। [अर्थात् इनका आपस में अभावप्रयुक्त साहचर्य नहीं है, जैसे-'जो अभिधेय नहीं है, वह प्रमेय भी नहीं है; इसका कोई उदाहरण ही नहीं बन पायेगा, अतः यह व्याप्ति नहीं बनपाएगी।]

न्यायबोधिनी

केवलान्वयिनो लक्षणमाह—अन्वयेति। व्यतिरेकव्याप्तिशून्यत्वे सति अन्वयव्याप्तिमत्त्वं केवलान्वयित्वम् !

अथवा केवलान्वयिसाध्यकत्वं तत्। एतच्च लक्षणं हेतोर्व्यतिरेकित्वेऽपि सङ्गच्छते, साध्यस्य केवलान्वयित्वादेव व्यतिरेकव्याप्तेरभावात् 'अन्वयमात्र-व्याप्तिकं केवलान्वयी'ति मूलकारोक्तं लक्षणमुपपन्नम्। अत्यन्ताभावाप्रति-योगित्वं केवलात्वयिन्वम्।

न चात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वरूपकेवलान्वयित्वमाकाशाभावे संयोगाभावे चाव्याप्तमिति वाच्यम्। स्वविरोधिवृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्यैव तदर्थ-त्वात्। तथा चानयोः एकजातीयसम्बन्धेन सर्वत्र विद्यमानत्वं केवलान्वयित्व-मिति नव्याः।

न्या०—केवलान्वयि हेतु का निरूपण करते हुए मूल में 'अन्वयमात्र व्याप्तिकम्०' लिखा। इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्ति शून्यत्व होते हुए अन्वयव्याप्ति, मत्त्व केवलान्वयित्व (अर्थात् केवालान्वयि का लक्षण होता है) फलित होता है। तथा व्यतिरेक व्याप्ति से रहित होते हुए अन्वय व्याप्ति से युक्त (हेतु) ही केवलान्वयि का स्वरूप सिद्ध होता है।)

अथवा (केवलान्ययि हो साध्य जिसका, वह हेतु केवलान्वयि हुआ इस प्रकार) केवलान्वयिसाध्यकत्व केवलान्वयित्व या केवलान्ययि हेतु का लक्षण होगा। यह लक्षण हेतु के व्यतिरेकित्व के होने पर भी संगत हो जाएगा। तथा इस प्रकार साध्य के केवलान्वयित्व से ही व्यतिरेकव्याप्ति के अभाव हो जाने से 'अन्वयमात्रव्याप्तिक' यह मूल में उक्त लक्षण भी सङ्गत हो जाता है।

अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व ही केवलान्वयित्व है। (अर्थात् अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगि जो साध्य, वह केवलान्वयि होगा।)

यदि कहो कि तब तो अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप जो केवलान्वयित्व वह आकाशाभाव तथा संयोगाभाव में अव्याप्त होगा। (वस्तुतः ये दोनों केवलान्वयि हैं, पर अब लक्षण नहीं जाएगा, क्योंकि आकाशाभाव तथा संयोगाभाव, आकाशाभावाभाव एवं संयोगाभावाभाव के प्रतियोगी ही होवेंगे, अप्रतियोगी नहीं होवेंगे, तो ठीक नहीं, क्योंकि अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व, का स्व' का (प्रतियोगी का) विरोधी तथा वृत्तिमान् जोअत्यन्ताभाव, उसका अप्रतियोगित्व अर्थ है। (इस प्रकार गगनाभावाभाव का गगनाभाव यद्यपि प्रतियोगी है, तथापि वह वृत्तिमान् [लोकसिद्ध=लौकिक व्यवहार में उपलब्ध] नहीं है, तथा संयोगाभावाभाव का प्रतियोगी संयोगाभाव है यद्यपि वह संयोगाभाव वृत्तिमान् तो है, परन्तु 'स्व'पद से ग्राह्य जो संयोगाभावरूप प्रतियोगी, उसका विरोधी नहीं है। उसी प्रकार एकजातीय सम्बन्ध से गगनाभाव एवं संयोगाभाव, इन दोनों के सब जगह विद्यमानत्व के होने से केवलान्वयित्वसिद्ध होता है, यह नव्यों का कहना है।

व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि। यथा पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्, यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत् यथा जलम् न चेयं तथा, तस्मान्न तथेति, अत्र यद्गन्धवत् तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति, पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्।

त०—मात्र (केवल) व्यतिरेकव्याप्ति से युक्त लिङ्ग (हेतु) केवलव्यतिरेकी कहलाता है। जैसे-पृथिवी अन्य द्रव्यों से भिन्न है, गन्धवत्त्व (गन्ध) के कारण। जो अन्य द्रव्यों से भिन्न नहीं है, वह गन्धवान् नहीं है. जैसे-जल। यह पृथिवी वैसी (इतर द्रव्यों से भिन्न) नहीं है, अतः गन्धवाली नहीं है' ऐसा भी नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ जो गन्धवान् होता है, वह इतर द्रव्यों से भिन्न होता है, इस अन्वयदृष्टान्त का अभाव है। क्योंकि सम्पूर्ण पृथिवी तो पक्ष ही है।

न्यायबोधिनी

केवलव्यतिरेकिणो लक्षणमाह—व्यतिरेकेति । निश्चितान्वयव्याप्तिशून्यत्वे सति व्यतिरेकव्याप्तिमत्त्वं केवलव्यतिरेकित्वम् । यथा पृथिवीति । अत्र पृथिवीत्वावच्छिन्नं पक्षः, पृथिवीतरजलाद्यष्टभेदः साध्यम्, गन्धवत्त्वं हेतुः । अत्र यद्गन्धवत्तदितरभेदवदित्यन्वयदृष्टान्ताभावाद्गन्धव्यापकेतरभेदसामानाधिकरण्यरूपान्वयव्याप्तिग्रहासम्भवः, किन्तु यत्र यत्र पृथिवीतरभेदाभावस्तत्र तत्र गन्धाभावो यथा जलादिकमिति व्यतिरेकदृष्टान्ते जलादावितरभेदाभावरूपसाध्याभावव्यापकता गन्धाभावे गृह्यते । इममेवार्थं मनसि निधाय 'यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत् यथा जलमि'ति ग्रन्थेन मूलकारो व्यतिरेकव्याप्तिमेव प्रदर्शितवान् ।

एवं प्रकारेण व्यतिरेकव्याप्तिग्रहानन्तरमितरभेदाभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगिगन्धवती पृथिवीत्याकारकव्यतिरेकिपरामर्शात् पृथिवीत्वावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपितेतरभेदत्वावच्छिन्नविधेयताका 'पृथिवी इतरभेदवती,त्याकारकानुमितिर्जायते इति तत्त्वम् ।

यथाश्रुतमूलार्थस्तु—यथा जलमिति । यत्—जलम् इतरेभ्यो न भिद्यते—इतरभेदाभाववत्, न तद्गन्धवत्—जलमितरभेदाभावव्यापकगन्धाभाववत् । न चेयं तथेति । इयं पृथिवी न तथा—इतरभेदाभावव्यापकगन्धाभाववती न, किन्तु तदभावात्मकगन्धवती । तस्मान्नतथेति । तस्मात्—गन्धाभावाभाववत्त्वात् न तथा—इतरभेदाभाववती न, किन्तु इतरभेदाभावाभाववती इतरभेदवतीत्यर्थः ।

न्या०—केवल व्यतिरेकी लिङ्ग का निरूपण करते हुए "व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकम्" लिखा । [उसके अनुसार) अन्वयव्याप्तिशून्यत्व होते हुए व्यतिरेकमात्रव्याप्तित्व का होना केवल व्यतिरेकित्व है [केवलव्यतिरेकि का लक्षण है] । अर्थात् जो हेतु अन्वयव्याप्ति से युक्त तो न हो, पर केवलव्यतिरेकव्याप्ति से युक्त हो, वही केवलव्यतिरेकी कहलाता है । यथा 'पृथिवीतरेभ्यो—' इत्यादि से जो केवलव्यतिरेकि हेतु का उदाहरण दिया है, उसमें पृथिवीत्व से अवच्छिन्न पक्ष है, पृथिवी से इतर द्रव्यों का भेद साध्य है, गन्धवत्त्व हेतु है । यहाँ पर—

'जो गन्धवान् होता है, वह पृथिवी से इतर द्रव्यों के भेदवाला होता है' इस अन्वयदृष्टान्त के अभाव के कारण गन्ध का व्यापक जो इतरभेद, उसके सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है, किन्तु 'जहाँ-जहाँ पृथिवीतरभेदाभाव है, वहाँ-वहाँ गन्धाभाव है, जैसे जलादिक में'', इस व्यतिरेक दृष्टान्त में जलादि में इतर (पृथिवीतर, अन्य द्रव्य) भेद के अभावरूप जो साध्याभाव है, उसकी व्यापकता गन्धाभाव में गृहीत होती है। यही अर्थ मन में रखकर 'जो इतर द्रव्यों से भिन्न नहीं है, वह गन्धवान् नहीं है, जैसे जल' इस ग्रन्थ से (कथन से) मूलकार ने व्यतिरेकव्याप्ति का ही प्रदर्शन किया है।

इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्ति के ग्रह के अनन्तर 'इतर (पृथिवीतरद्रव्य) भेदाभाव का व्यापकीभूत जो अभाव, (गन्धाभाव), उसका प्रतियोगी जो गन्ध, उससे युक्त पृथिवी है' इस प्रकार के परामर्श से पृथिवीत्व से अवच्छिन्ना जो उद्देश्यता, उससे निरूपिता जो इतर (पृथिवीतरद्रव्य) भेदत्व से अवच्छिन्ना विधेयता, उससे युक्त 'पृथिवी इतरभेदवती (पृथिवीतर द्रव्यों के भेदवाली अर्थात् उससे भिन्न) है' इस प्रकार की अनुमिति होती है यह यथार्थ तत्त्व है।

मूलोक्त उदाहरण ''यथा जलम्'' इत्यादि का यथाश्रुत अर्थ निम्न प्रकार से जानना चाहिए—जो जल इतर द्रव्यों से भिन्न नहीं है, इतरभेदाभाववान् है, वह गन्धयुक्त नहीं है अर्थात् वह जल इतरभेदाभाव का व्यापक जो गन्धाभाव, उससे युक्त है।

'न चेयं तथा' का—यह पृथिवी वैसी नहीं है, अर्थात् इतरभेदाभावव्यापक गन्धाभाव से युक्त नहीं है। किन्तु गन्धाभाव का प्रतियोगी जो गन्ध, उससे युक्त है, यह अर्थ है। 'तस्मान्न तथा' में 'तस्मात्' का—'गन्धाभाव के अभाववत्त्व (अभाव) के कारण' यह अर्थ है एवं 'न तथा' का—''इतर (पृथिवीतर) के भेद का जो अभाव उससे युक्त नहीं है, किन्तु इतर (पृथिवीतर द्रव्य) के भेद के अभाव के अभाववाली है, अर्थात् इतरभेदवती है, यह अर्थ है।

सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः यथा धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः ॥

त०—सन्दिग्धसाध्यवान् पक्ष है (अर्थात् जिस स्थान में साध्य का सन्देह हो,

उसे पक्ष कहते हैं।) जैसे धूमवत्त्व (धूम) हेतु के होने से पर्वत पक्ष है (क्योंकि धूम के कारण वहाँ साध्य वह्नि का सन्देह होता है।]

न्यायबोधिनी

पक्षलक्षणमाह—सन्दिग्धेति। साध्यप्रकारकसन्देहविशेष्यत्वं पक्षत्वम्। सन्देहश्च पर्वतो वह्निमान्न वेत्याकारकः इदं च लक्षणमनुमितेः पूर्वं साध्यसन्देहो नियमेन जायत इत्यभिप्रायेण प्राचीनैः कृतम्। गगनविशेष्यकमेघप्रकारकसन्देहाभावदशायामपि गृहमध्यस्थपुरुषस्य घनगर्जितश्रवणेन गगनं मेघवदित्याकारिकाया गगनत्वावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपितमेघत्वावच्छिन्नविधेयताकाया अनुमितेर्दर्शनात्प्राचीनलक्षणं विहाय नवीनैरनुमित्युद्देश्यत्वं पक्षत्वमिति स्थिरीकृतम्।

न्या०—पक्षता का निरूपण करते हुए 'सन्दिग्धसाध्यवान्' मूल में कहा है। उसके अनुसार साध्य प्रकारक [विशेषणक] सन्देह विशेष्यत्व पक्षत्व अर्थात् पक्ष का लक्षण सिद्ध होता है। 'पर्वत आगवाला है या नहीं, यह सन्देह का आकार होगा। पूर्वोक्त जो पक्षका लक्षण, वह प्राचीनों के द्वारा यह सोचकर किया गया है, कि अनुमिति के पूर्व साध्य का सन्देह नियम से [अर्थात् निश्चितरूप से] होता है। गगनविशेष्यक मेघप्रकारक सन्देह के अभाव की दशा में भी घर के भीतर रहने वाले आदमी को भी मेघ की गर्जना के सुनने पर "आकाश मेघवाला है" इस प्रकार की गगनत्व से अवच्छिन्ना जो उद्देश्यता, उससे निरूपिता जो मेघत्व से अवच्छिन्ना विधेयता, उससे युक्त जो अनुमिति, उसका दर्शन होता है, अर्थात् वैसी अनुमिति होती है। अतः पूर्वोक्त प्राचीनों के लक्षण को छोड़कर नवीनों के द्वारा 'अनुमित्युद्देश्यत्व' अर्थात् अनुमिति का जो उद्देश्य, उसमें रहने वाला तत्त्व [धर्म], यह लक्षण स्थिर किया गया है। अर्थात् स्वीकृत किया गया है।

निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। यथा तत्रैव महानसम्॥

त०—निश्चितसाध्यवान् सपक्ष है। अर्थात् जिस स्थान में (अधिकरण में) साध्य का निश्चय हो, उसे सपक्ष कहते हैं।

न्यायबोधिनी

सपक्षलक्षणमाह—निश्चितेति । साध्यप्रकारकनिश्चयविशेष्यत्वं सपक्षत्वम् । निश्चयश्च महानसं वह्निमदित्याकारकः ।

न्या०—सपक्ष का निरूपण करते हुए मूलकार ने 'निश्चितसाध्यवान्' इत्यादि कहा है। इस प्रकार साध्यप्रकारकनिश्चयविशेष्यत्व यह सपक्षत्व (अर्थात् सपक्ष का लक्षण सिद्ध होता) है। वह निश्चय 'महानस (रसोई घर) वह्निमान् है' इत्यादि प्रकार का होता है।

निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः । यथा तत्रैव महाह्रदः ॥

त०—निश्चितसाध्याभाववान् विपक्ष है। अर्थात् जिस स्थान में साध्य के अभाव का निश्चय हो, उसे विपक्ष कहते हैं। जैसे वहीं (धूमहेतुक वह्निसाध्यक अनुमिति में) महाह्रद। [क्यों कि महाह्रद में साध्य वह्नि का अभाव लोक में प्रत्यक्षतः सिद्ध है]

न्यायबोधिनी

विपक्षलक्षणमाह निश्चितसाध्याभावेति । साध्याभावप्रकारकनिश्चयविशेष्यत्वं विपक्षत्वम् । निश्चयश्च ह्रदो वह्न्यभाववानित्याकारकः ।

न्या०—विपक्ष का निरूपण करते हुए मूलकार ने 'निश्चितसाध्याभाववान्' कहा है। इसके अनुसार साध्याभावप्रकारक निश्चयविशेष्यत्व विपक्षत्व है, अर्थात् विपक्ष का लक्षण है। "ह्रद वह्नि के अभाववाला हैं" यही साध्याभाव-प्रकारक निश्चय का स्वरूप होगा।

सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः ।

त०—सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित, ये पाँच हेत्वाभास हैं।

न्यायबोधिनी

एवं सद्धेतून्निरूप्य हेत्वाभासान्निरूपयति—सव्यभिचारेति । हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासाः, दुष्टहेतव इत्यर्थः । दोषाश्च व्यभिचारविरोधसत्प्रतिपक्षासिद्धिबाधाः । एकज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकत्त्वसम्बन्धेन एतद्विशिष्टा हेतवो दुष्टहेतव इत्यर्थः ।

यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धकत्वं तत्त्वं दोषसामान्यस्य लक्षणम् । हेतौ दोषज्ञाने सत्यनुमितिप्रतिबन्धो जायते व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धो वा । अतो वादिनिग्रहाय वादिनोद्भावितहेतौ दोषोद्भावनाय दुष्टहेतुनिरूपणमित्यर्थः ।

न्या०—पूर्वोक्त प्रकार से सद्धेतुओं का निरूपण करने के बाद हेत्वाभासों का निरूपण करते हुए मूलकार ने 'सव्यभिचार' इत्यादि लिखा । जो हेतु की तरह प्रतीत होते हों पर वस्तुतःसाध्य के साधक हेतु न हों, वे हेत्वाभास कहलाते हैं; अर्थात् दुष्ट हेतु । व्यभिचार, विरोध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्धि और बाध, ये हेतु के दोष हैं । एक ज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध से इन दोषों से युक्त हेतु ही दुष्ट हेतु या हेत्वाभास कहलाते हैं । यहाँ किसी ने सन्देह किया था कि उपर्युक्त व्यभिचार आदि दोष तो साक्षात् हेतु से सम्बद्ध हैं अतः उनके कारण हेतुदुष्ट हो तथा हेत्वाभास कहलाये यह तो ठीक है परन्तु बाध आदि दोषों का तो पक्षादि से सम्बन्ध होने से यहाँ के हेतु को हेत्वाभास नहीं कहना चाहिए इसका उत्तर देते हुए 'एकज्ञानविषय' आदि कहा इस कथन का यह सरलार्थ है कि जिस किसीभी अनुमति के जितने भी पक्षादि हैं उनमेंसे किसी के भी दोष युक्त होने से हेतु साध्य का साधन नहीं कर पाएगा अतः हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से तो हेतु दुष्ट हो ही जाएगा भले साक्षात् न हो इस तरह हेत्वाभास के लिए दोषों का हेतु से साक्षात् सम्बन्ध अपेक्षित नही हैं बल्कि हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध अपेक्षित है यद्विषयकदोषज्ञान का अनुमिति एवं उस के करण-व्याप्तिज्ञान के प्रति प्रतिबन्धकत्व दृष्ट है तत्त्व अर्थात् तद्विषयकत्व ही दोषसामान्य का अर्थात् सामान्यतः दोष का लक्षण है। यद्विषयक दोष का ज्ञान अनुमिति अथवा उसके करण (व्याप्ति ज्ञान) का

प्रतिबन्धक होगा तद्विषयक होना ही दोष है। हेतु में दोष के ज्ञान होनेपर अनुमिति अथवा व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्ध होता है। अतः वादी के निग्रह के लिए (निगृहीत करने के लिए) वादी के द्वारा उद्भावित (उपस्थापित) हेतुओं में दोषों की उद्भावना के लिए दुष्टहेतुओं का निरूपण किया गया है। यह सबका सार अर्थ है।

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स त्रिविधः—साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात्।

त०—सव्यभिचार को अनैकान्तिक भी कहते हैं। वह सव्यभिचार तीन प्रकार का होता है-साधारण, असाधारण एवं अनुपसंहारी।

न्यायबोधिनी

सव्यभिचारं विभज्य दर्शयति—साधारणेति। साधारणाद्यन्यतमत्वं सव्यभिचारसामान्यलक्षणम्।

न्या०—सव्यभिचार का विभाग कर के (विभाजित रूप में) दिखलाने के अभिप्राय से 'साधारणासाधारण' इत्यादि मूलकार ने लिखा। साधारण आदि (असाधारण, अनुपसंहारी) का अन्यतमत्व ही सामान्य रूप से सव्यभिचार का लक्षण होगा।

तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः। यथा-पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वादिति। (अत्र) प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्।

त०—उन तीनों (साधारण असाधारण एवं अनुपसंहारी में, साध्य के अभाव के अधिकरण में रहने वाले को साधारण सव्यभिचार (या अनैकान्तिक) कहते है। जैसे (पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्) "पर्वत आगवाला है, प्रमेयत्व होने के कारण।" क्योंकि यहाँ पर प्रमेयत्व हेतु का (साध्य) वह्नि के अभाव के अधिकरण ह्रद में विद्यमानत्व है, अर्थात् वहाँ का प्रमेयत्वरूप हेतु साध्या-

भाववान् हद में विद्यमान है। अतः साधारण व्यभिचार से दुष्ट होने के कारण प्रमेयत्वहेतु हेतु नहीं (साध्य का साधक नहीं) अपितु दुष्ट हेतु है। सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्र वृत्तिः असाधारणः यह जो मूल में (तर्कसंग्रह में) कहा है उसमें पक्षमात्रवृत्तित्व ही असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास का लक्षण समझना चाहिए। सर्व सपक्षविपक्षव्यावृत्तः यह तो पक्षमात्रवृत्ति का व्याख्यानमात्र ही है लक्षण नहीं। इस प्रकार सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः ऐसा व्याख्यान से साध्य का असमानाधिकरण हेतु सिद्ध हो जाता है इस प्रकार साध्यसामानधिकरण्य रूप व्याप्तिका प्रतिबन्ध हो जाता है यही सब सोचकर न्यायबोधिनीकार ने मात्र सर्वसपक्षव्यावृत्त- काही व्याख्यान किया है क्योंकि सर्वविपक्षव्यावृत्त के व्याख्यान से कारण का साध्याभावासामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति का बाधसंभव नहीं है अतः साधारणव्यभिचार से दुष्ट होने के नाते प्रमेयत्वहेतु हेतु नहीं (साध्य का साधक नहीं) अपि तु दुष्ट हेतु है।

न्यायबोधिनी

साधारणत्वं—साध्याभाववद्वृत्तित्वम्। वह्निमान् प्रमेयत्वादित्यत्र प्रमेयत्वहेतौ वह्न्यभाववद्वृत्तित्वरूपव्यभिचारे ज्ञाते वह्न्यभाववदवृत्तित्वरूपव्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धः फलम्।

न्या०—'साध्याभाववद्वृत्तित्व' साध्य के अभाव के अधिकरण में रहना, यही साधारणत्व है, अर्थात् साधारण व्यभिचार का लक्षण है। 'पर्वत वह्नि मान् है, प्रमेयत्व के होने से' यहाँ पर प्रमेयत्व हेतु में साध्य वह्नि के अभाव के अधिकरण में वृत्तित्व रूप व्यभिचार के ज्ञान होने पर 'वह्नि के अभाव के अधिकरण में अवृत्तित्व' रूप जो व्याप्तिज्ञान, उसका प्रतिबन्ध ही फल है।

सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः। यथा—शब्दो नित्यः शब्दत्वादिति। (अत्र) शब्दत्वं सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्ति।

त०—जो सभी सपक्ष एवं विपक्ष से व्यावृत्त हो (अर्थात् सम्पूर्ण सपक्ष एवं सम्पूर्ण विपक्ष भर में न हो), तथा केवल पक्ष में हो वह हेतु असाधारण अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास कहलाता है। जैसे 'शब्द नित्य है, शब्दत्व के कारण।' यहाँ का हेतु जो शब्दत्व, वह सभी नित्य सपक्ष एवं अनित्य विपक्ष से व्यावृत्त है, तथा 'शब्द' रूप पक्ष मात्र में रह रहा है।

न्यायबोधिनी

असाधारण इति। सर्वसपक्षव्यावृत्तत्वं-निश्चितसाध्यवदवृत्तित्वम्। साध्यवदवृत्तित्वं च साध्यासामानाधिकरण्यम्। हेतौ साध्यासामानाधिकरण्ये निश्चिते साध्यसामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धः फलम्।

न्या०—असाधारण के लक्षण में आये हुए सर्वसपक्षव्यावृत्तत्व का निश्चितसाध्यवद् में न रहना अर्थ है इस प्रकार साध्यवन् अवृत्तित्व का साध्य का असामानाधिकरण्य अर्थ है। हेतु में साध्य के असामानाधिकरण्य (साध्य के अधिकरण में न रहने के) निश्चय हो जानेपर साध्यसमानाधिकरण्य [साध्य के अधिकरण में हेतु के रहना] रूप व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्ध ही फल है।

अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा-सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद् दृष्टान्तो नास्ति।

त०—अन्वय एवं व्यतिरेक दृष्टान्तों से रहित (शून्य) जो हेतु उसे अनुपसंहारी अनैकान्त हेत्वाभास कहते हैं। जैसे-सभी कुछ अनित्य है, प्रमेयत्व के कारण। यहाँ पर सब कुछ तो पक्ष ही बन गया है, अतः कहीं भी अन्यत्र इस प्रकार (अन्वय और व्यतिरेक, किसी भी प्रकार) का दृष्टान्त नहीं मिल पाएगा।

न्यायबोधिनी

अनुपसंहारिणं लक्षयति अन्वयेति। उभयत्र दृष्टान्ताभावादन्वयव्याप्तिज्ञानव्यतिरेकव्याप्तिज्ञानोभयसामग्री नास्तीत्यर्थः। सर्वस्यैव पक्षत्वात्पक्षातिरिक्ताप्रसिद्धेरिति भावः। किञ्चिद्विशेष्यकनिश्चयाविषयसाध्यकत्वे सति किञ्चिद्वि-

शेष्यकनिश्चयाविषयसाध्याभावकत्वमेवानुपसंहारित्वम् । एतदीयज्ञानस्य व्याप्तिसंशयजननद्वारा व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धः फलम् ।

वस्तुतस्तु अत्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यादिकत्वमेवानुपसंहारित्वमिति बोध्यम् ।

न्या०——अनुपसंहारी का लक्षण करते हुए 'अन्वयव्यतिरेक' आदि मूल में कहा गया है। उभय अर्थात् अन्वय एवं व्यतिरेक, इन दोनों दृष्टान्तों के अभाव होने के कारण अन्वयव्याप्तिज्ञान एवं व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान, इन दोनों की सामग्री (सपक्ष, विपक्ष एवं अन्वयव्यतिरेकव्याप्ति) का अभाव है। क्योंकि पक्ष से अतिरिक्त सामग्रियों की अप्रसिद्धि हो जाएगी यह भाव है। इस प्रकार किञ्चिद्विशेष्यक जो निश्चय, उसका आश्रयीभूत साध्य हो जिस हेतु का, तत्त्व (उस में रहने वाला धर्म) के अधिकरण में रहनेवाला किञ्चिद् विशेष्यक निश्चय का अविषयीभूत साध्याभाव हो जिस हेतु का, उस हेतु में रहनेवाला जो धर्म, वही अनुपसंहारित्व है अर्थात् अनुपसंहारी अनैकान्तिक हेत्वाभास का लक्षण हैं। इस प्रकार के अनुपसंहरित्व के ज्ञान का फल व्याप्ति में संशय के जनन के द्वारा व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्ध ही है। वास्तव में तो अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिसाध्यादिकत्व को हो अनुपसंहारित्व समझना चाहिए।

साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः । यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वात् घटवदिति । (अत्र) कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनाऽनित्यत्वेन व्याप्तम् ।

त०——साध्याभाव के साथ व्याप्त जो हेतु अर्थात् साध्य के अभाव के साथ जिस हेतु की व्याप्ति बन रही हो, वह दुष्ट हेतु विरुद्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है। जैसे-शब्द नित्य है कृतकत्व (कार्यत्व, उत्पत्ति) के कारण घट की तरह। क्योंकि यहाँ का कृतकत्व रूप हेतु नित्यत्व जो साध्य, उस का अभाव जो अनित्यत्व, उस के साथ व्याप्त है।

न्यायबोधिनी

विरुद्धं लक्षयति—साध्याभावव्याप्त इति। साध्याभावव्याप्तिः—साध्याभावनिरूपितव्यतिरेकव्याप्तिः—साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम्। तथा च पक्षविशेष्यकसाध्याभावव्याप्यहेतुप्रकारकज्ञानात् पक्षविशेष्यकसाध्यप्रकारकानुमितिप्रतिबन्धः फलम्। एवं सत्प्रतिपक्षेऽपि। विरुद्धसत्प्रतिपक्षयोर्विशेषस्तु विरुद्धहेतोरेकत्वेन, सत्प्रतिपक्षहेतोर्द्वित्वेन च ज्ञातव्यः।

न्या०—विरुद्ध का लक्षण करते हुए 'साध्याभावव्याप्त' इत्यादि मूल में कहा। साध्याभावव्याप्ति का साध्य के अभाव से निरूपिता जो व्याप्ति यह अर्थ है। अथवा साध्य के व्यापकीभूत अभाव के प्रतियोगित्व को साध्याभाव व्याप्ति कहते हैं। इस प्रकार पक्षविशेष्यक साध्याभाव का व्याप्य जो हेतु, तत्प्रकारक (तद्विशेषणक) ज्ञान का पक्षविशेष्यक साध्यप्रकारक अनुमिति का प्रतिबन्ध होना ही फल है। इसी प्रकार सत्प्रतिपक्षस्थल में भी अनुमिति का प्रतिबन्ध होता है। विरुद्ध और सत्प्रतिपक्ष में केवल इतना हीं अन्तर है कि, विरुद्ध के हेतु को एकत्व से एवं सत्प्रतिपक्ष के हेतु को द्वित्व से समझना चाहिए, अर्थात् विरुद्ध स्थल में एक ही हेतु होता है पर सत्प्रतिपक्षस्थल में साध्य एवं साध्याभाव के साधक दो हेतु होते हैं।

साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः। यथा-शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत्, शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवत्।

त०—(जिस साध्य के साधक हेतु के) साध्य के अभाव का साधक दूसरा हेतु भी हो, उस (हेतु) को सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहते हैं। जैसे शब्द नित्य है– श्रावणत्व के कारण, शब्द अनित्य है कार्यत्व के कारण, घट की तरह।

न्यायबोधिनी

साध्याभावव्याप्यप्रतिहेतुमत्पक्षस्सत्प्रतिपक्ष इति यावत्। साध्याभावसाधकहेतुः साध्यसाधकत्वेनोपन्यस्त इत्यसामर्थ्यसूचनमपि।

न्या०—इस प्रकार साध्याभाव का व्याप्य जो प्रतिहेतु अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी जो द्वितीय हेतु, तद्वान् जो पक्ष, वह जिस हेतु के रहने पर पक्ष बन रहा हो, वह हेतु सत्प्रतिपक्ष कहलाता है, यह सब कथन का अभिप्राय हुआ। तथा वादी के द्वारा साध्याभाव के साधक हेतु को ही साध्य के साधकत्व के रूप में उपन्यस्त करना (रखना या कहना) उस के असामर्थ्य का सूचक है।

असिद्धस्त्रिविधः—आश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धो ऽव्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

त०—असिद्ध नामक हेत्वाभास तीन प्रकार का होता है—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध।

आश्रयासिद्धो यथा—गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः स नास्त्येव।

त०—आश्रयासिद्ध का उदाहरण है—गगनारविन्द सुरभि (सुगन्धित) है, अरविन्द के कारण, तालाब में पैदा हुए अरविन्द की तरह। यहाँ गगनारविन्द (आकाश-कमल) आश्रय (पक्ष) है; वह है ही नहीं।

न्यायबोधिनी

आश्रयासिद्ध इति। आश्रयासिद्धिर्नाम पक्षतावच्छेदकविशिष्टपक्षाप्रसिद्धिः। यथेति। अत्रारविन्दे गगनीयत्वाभावे निश्चिते गगनीयत्वविशिष्टारविन्दे सौरभ्यानुमितिप्रतिबन्धः फलम्।

न्या०—पक्षता का अवच्छेदक जो धर्म, उससे विशिष्ट जो पक्ष, उस की अप्रसिद्धि को ही आश्रयासिद्धि कहते हैं। (तथा ऐसी आश्रयासिद्धि से युक्त जो हेतु, वह आश्रयासिद्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है। ऐसा समझ लेना चाहिए।) यहाँ पर अरविन्द में गगनीयत्व के अभाव के निश्चित हो जाने पर गगनीयत्व से विशिष्ट अरविन्द में सौरभ्य (सुगन्धित) की अनुमिति का प्रतिबन्ध हो जाता है।

स्वरूपासिद्धो यथा—शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात्। अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे नास्ति शब्दस्य श्रावणत्वाद्।

त०—स्वरूपासिद्ध का उदाहरण है—जैसे-शब्द गुण है, चाक्षुषत्व के कारण। यहाँ पर चाक्षुषत्व शब्द में है ही नहीं, शब्द में श्रावणत्व के होने से अर्थात् शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष ही होता है।

न्यायबोधिनी

स्वरूपासिद्ध इति। स्वरूपासिद्धिर्नाम पक्षे हेत्वभावः। तथा च हेत्वभावविशिष्टपक्षज्ञानात् पक्षविशेष्यकहेतुप्रकारकपरामर्शानुपपत्त्या परामर्शप्रतिबन्धः फलम्।

न्या०—पक्ष में हेतु के अभाव को स्वरूपासिद्धि कहते हैं। इस प्रकार हेतु के अभाव से विशिष्ट जो पक्ष, उसके ज्ञान होने पर पक्ष विशेष्यक हेतु प्रकारक परामर्श की सिद्धि नहीं हो पाती। अतः परामर्श का प्रतिबन्ध होना ही फल है।

सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। पर्वतो धूमवान् वह्निमत्वादित्यत्रार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। यत्र धूमस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकता। यत्र वह्निस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनाव्यापकता। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वाद्वह्निमत्वं व्याप्यत्वासिद्धम्।

त०—उपाधि से युक्त जो हेतु, वह व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास कहलता है। साध्यका व्यापक होते हुए साधन (हेतु) का जो अव्यापक हो,

उसे ही उपाधि कहते हैं। साध्य के अधिकरण में रहने वाला जो अत्यन्ताभाव उसका अप्रतियोगित्व ही साध्य का व्यापकत्व है, तथा साधन (हेतु) के अधिकरण में रहने वाला जो अत्यन्ताभाव, उस का प्रतियोगित्व ही साधन का अव्यापकत्व है। जैसे 'पर्वत धूम वाला है, अग्निमत्त्व (आग) के कारण' यहाँ पर आर्द्रेन्धन संयोग (भींगा हुआ इन्धन और आग का संयोग) ही उपाधि है। क्योंकि 'जहाँ धूम है, वहाँ आर्द्रेन्धन संयोग है' यह साध्य (धूम) की व्यापकता है, (अर्थात् साध्य धूम के प्रति आर्द्रेन्धन संयोग की व्यापकता है)। तथा जहाँ वह्नि है, वहाँ आर्द्रेन्धन संयोग नहीं भी है। जैसे अयोगोलक (जलता हुआ लोहे का लाल गोला) में आग है, पर आर्द्रेन्धन के संयोग का अभाव है, यही साधन की अव्यापकता है अर्थात् साधन (हेतु) जो वह्नि उस के प्रति आर्द्रेन्धन संयोग की अव्यापकता है। इस प्रकार साध्य के व्यापकत्व का अधिकरण होते हुए साधन के अव्यापकत्व के अधिकरण होने के कारण आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि सिद्ध होता है और इस उपाधि से युक्त होने के कारण 'वह्निमत्त्व' रूप जो प्रकृत हेतु है, वह व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास सिद्ध होता है।

न्यायबोधिनी

व्याप्यत्वासिद्ध इति। प्रकृते धूमव्यापकत्वमार्द्रेन्धनसंयोगे गृहीतं चेद्धूमे-आर्द्रेन्धनसंयोगव्याप्यत्वं गृहीतम् एवं वह्नेरव्यापकत्वमार्द्रेन्धनसंयोगे गृहीतं चेद्वह्नौ तदव्याप्यत्वं गृहीतम्। तदेव व्यभिचरितत्वम्। तथा चोपाधिव्यभिचारित्वं साधने गृहीतं चेदुपाधिभूतार्द्रेन्धनसंयोगव्याप्यधूमव्यभिचारित्वं गृहीतमेव।

अनुमानप्रकारश्च—पूर्वानुमानहेतुं पक्षीकृत्य वह्निर्धूमव्यभिचारी धूमव्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचरित्वात् घटत्वादिवत्, यो यत्साध्यव्यापकव्यभिचारी स सर्वोऽपि साध्यव्यभिचारीति रीत्या बोध्यः। एवं प्रकारेण प्रकृतानुमानहेतुभूते पक्षे साध्यव्यभिचारोत्थापकतया दूषकत्वमुपाधेः फलम्। तथाच धूमाभाववदवृत्तित्वाभावरूपधूमव्यभिचारे गृहीते वह्नौ धूमाभाववदवृत्तित्वरूपव्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धः फलम्।

न च व्याप्यत्वासिद्धेः व्यभिचारादभेद इति वाच्यम् धूमाभाववद्वृत्तित्वाभावाभावत्वेन व्याप्यत्वासिद्धत्वं, धूमाभाववद्वृत्तित्वेन व्यभिचारित्वमिति भेदात् ।

न्या०—मूलोक्त अनुमान में धूम का व्यापत्व यदि आर्द्रेन्धन संयोग में गृहीत हो जाय, तो धूम में आर्द्रेन्धन संयोग का व्याप्यत्व भी गृहीत हो जायगा । इसी प्रकार वह्नि का अव्यापकत्व यदि आर्द्रेन्धन संयोग में गृहीत हो जाय, तो वह्नि में उस (आर्द्रेन्धन संयोग) का अव्याप्यत्व भी गृहीत हो जायगा । यही अव्याप्यत्व व्यभिचारित्व है । इस प्रकार यदि उपाधि का व्यभिचारित्व साधन में गृहीत हो जाय, तब तो उपाधिभूत जो आर्द्रेन्धन संयोग का व्याप्य, जो धूमव्यभिचारितत्व वह भी गृहीत हो ही जायगा ।

अनुमान का प्रकार—

"पर्वतः धूमवान् वह्नेः" पूर्वपक्ष के इस अनुमान के हेतु को पक्ष बनाकर "वह्नि धूम का व्यभिवारी है, धूम का व्यापक जो आर्द्रेन्धन संयोग, उसके व्यभिचरितत्व के कारण, घटत्वादि की तरह । जो जिस साध्य के व्यापक का व्यभिचारी होगा, वह उस साध्य का व्यभिचारी होगा" इस रीति से जानना चाहिए । इस प्रकार प्रकृत स्थल के अनुमान के हेतुभूत पक्ष में साध्य के व्यभिचार की उत्थापकता ही उपाधि के दूषकत्व का बीज है । तथा धूम के अभाव के अधिकरण में अवृत्तित्व के अभावरूप धूम के व्यभिचार के गृहीत होने पर वह्नि में धूमके अभाव के अधिकरण में अवृत्तित्व रूप व्याप्ति ज्ञान का प्रतिबन्ध ही उसका फल होगा ।

यदि यह कहो कि, इस प्रकार तो व्याप्यत्वासिद्ध का व्यभिचार से अभेद हो जाएगा, तो ठीक नहीं, क्योंकि धूम के अभाव के अधिकरण से निरूपित वृत्तित्व के अभाव के अभावत्व रूप से व्याप्यत्वासिद्ध का बोध होता है । तथा धूम के अभाव के अधिकरण से निरूपित वृत्तित्व रूप से व्यभिचरितत्व का बोध होता है, इतना दोनों में अन्तर है । (अर्थात् प्रवृत्ति निमित्त के भेद के कारण दोनों में भेद है, ऐसा समझना चाहिए ।)

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः। यथावह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति। अत्रानुष्णत्वं साध्यं तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम्।

त०—जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से निश्चित अर्थात् सिद्ध हो, वह हेतु बाधित नाम का हेत्वाभास कहलाता है। जैसे "वह्नि अनुष्ण है, अर्थात् उष्ण नहीं है, द्रव्यत्व के कारण" यहाँ पर अनुष्णत्व साध्य है, उसका अभाव उष्णत्व अनुमान से भिन्न प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से गृहीत होता है, अर्थात् यह सिद्ध होता है, अतः यहाँ के हेतु का बाधितत्व सिद्ध होत्ता है।

न्यायबोधिनी

यस्येति। यस्य हेतोः साध्याभावः—साध्यबाधः प्रमाणान्तरेण—प्रत्यक्षादि-प्रमाणेन पक्षे निश्चितः स बाधित इत्यर्थः। तथा च प्रात्यक्षिकसाध्यबाधनिश्चये जाते साध्यानुमितिप्रतिबन्धः फलम्। बाधितसाध्यकत्वाद् बाधितहेतुरित्युच्यते।

इति न्यायबोधिन्यामनुमानपरिच्छेदः।

न्या—जिस हेतु का साध्याभाव अर्थात् साध्य का बाध प्रमाणान्तर अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से पक्ष में सिद्ध हो, वह हेतु बाधित हेत्वाभास है, यह मूल का सरलार्थ है। और इस प्रकार के प्रात्यक्षिक साध्याभाव के निश्चय हो जाने के बाद साध्य की अनुमिति का प्रतिबन्ध ही फल है। ऐसे स्थल में बाधित साध्यकत्व के कारण बाधित हेतु कहा जाता।

॥ अनुमान परिच्छेद समाप्त ॥

★ ★ ★

अथोपमानपरिच्छेदः

उपमितिकरणमुपमानम् । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः, तत्करणं सादृश्यज्ञानम् । तथाहि—कश्चिद् गवयपदार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात्—गोसदृशो गवय—इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति । तदनन्तरमसौ गवयशब्दवाच्य इत्युपमितिरुत्पद्यते ।

त०—उपमिति [प्रमा] के करण को उपमान कहते हैं । संज्ञा और संज्ञि के सम्बन्ध के ज्ञान को उपमिति कहते हैं उसका करण सादृश्यज्ञान है । जैसे कि कोई 'गवय' पदार्थ को नहीं जानता हुआ कहीं पर किसी आरण्यक पुरुष [जङ्गल में रहने वाले आदमी] से 'गो के सदृश गवय होता है' ऐसा सुनने के बाद वन में गया, तब वह पूर्वश्रुत [पहले के सुने हुए] वाक्य के अर्थ का स्मरण करता हुआ गो के सदृश पिण्ड अर्थात् पशु को देखता है । उसके बाद यह 'गवय शब्द का वाच्य है' इस प्रकार का जो उसे ज्ञान होता है, उसीको उपमिति कहते हैं ।

इत्युपमान परिच्छेद

न्यायबोधिनी

उपमानं लक्षयति—उपमितिकरणमिति । उपमितिं लक्षयति—संज्ञा-संज्ञीति । संज्ञा नाम पदम्, संज्ञी अर्थः, तयोः सम्बन्धः शक्तिः, तथा च पद-पदार्थसम्बन्धज्ञानमुपमितिरित्यर्थः । उपमानं नामातिदेशवाक्यार्थज्ञानम् । अति-देशवाक्यार्थस्मरणं व्यापारः । उपमितिः फलम् । गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्याकारकवाक्याद् गोसादृश्यावच्छिन्नविशेष्यकगवयपदवाच्यत्वप्रकारेण यज्ज्ञानं जायते तदेव करणम् ।

न्या०—उपमान का लक्षण करते हुए 'उपमितिकरणम्' मूल में लिखा। तथा उपमिति का लक्षण करते हुए "संज्ञा संज्ञि०" आदि लिखा। संज्ञा (किसी पदार्थ के वाचक) पद को कहते हैं तथा संज्ञी (उस पद के) अर्थ को कहते हैं। इन दोनों संज्ञा और संज्ञि का सम्बन्ध ही शक्ति है। तथा पद और पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान ही उपमिति है, यह उस का अर्थ है। [गो के सदृश गवय होता है" इस वाक्य को ही यहाँ अतिदेश वाक्य कहा है।] अतिदेश-वाक्य के अर्थ के ज्ञान को उपमान कहते हैं। अतिदेशवाक्य के अर्थ का स्मरण ही व्यापार है। उपमिति उसका फल है। 'गोसदृश गवय पद का वाच्य है' इस प्रकार के वाक्य से गो के सादृश्य से अवच्छिन्न विशेष्य से युक्त तथा गवयपदवाच्यत्वप्रकारक जो ज्ञान होता है, वह उपमिति है वही अतिदेश-वाक्यार्थ उपमिति का करण है, अर्थात् उपमान है॥

इति न्यायबोधिन्यामुपमानपरिच्छेदः

★ ★ ★

अथ शब्दपरिच्छेदः

आप्तवाक्यं शब्दः । आप्तस्तु यथार्थवक्ता । वाक्यं पदसमूहः, यथा-गामानयेति । शक्तं पदम् । अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः ।

त०—आप्त के वाक्य को शब्द कहते हैं । आप्त यथार्थवक्ता को कहते हैं। पद के समूह को वाक्य कहते हैं । जैसे 'गाम्' और 'आनय' इन दो पदों का समूह 'गामानय' यह वाक्य है । शक्त को अर्थात् शक्ति के आश्रय को पद कहते हैं । 'इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए' इस प्रकार का संकेत (ईश्वरेच्छा) ही शक्ति है ।

न्यायबोधिनी

शब्दं लक्षयति—आप्तेति । आप्तोच्चरितत्वे सति वाक्यत्वं शब्दस्य लक्षणम् । (प्रमाणशब्दत्वं लक्ष्यतावच्छेदकम्) । वाक्यत्वमात्रोक्तावनाप्तोच्चरितवाक्येऽतिव्याप्तिरत—आप्तोच्चरितत्वनिवेशः । तावन्मात्रोक्तौजबगडदशादावतिव्याप्तिरतो वाक्यत्वम् । आप्तत्वं च प्रयोगहेतुभूतयथार्थज्ञानत्त्वम् । तथा च प्रयोगहेतुभूतयथार्थज्ञानजन्यशब्दत्वमिति पर्यवसन्नोऽर्थः ।

वस्तुतस्तु पदज्ञानं करणम् । वृत्तिज्ञानसहकृतपदज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितिर्व्यापारः । वाक्यार्थज्ञानं शाब्दबोधः फलम् । वृत्तिर्नाम शक्तिलक्षणान्यतररूपा । शक्तिर्नाम घटादिविशेष्यकघटादिपदजन्यबोधविषयत्वप्रकारक ईश्वरसङ्केतः । ईश्वरसङ्केतो नाम ईश्वरेच्छा, सैव शक्तिरित्यर्थः । शक्तिनिरूपकत्वमेव पदे शक्तत्वम् । विषयतासम्बन्धेन शक्त्याश्रयत्वमर्थे शक्यत्वम् ।

शक्यसम्बन्धो लक्षणा । सा द्विविधा गौणी शुद्धा चेति । गौणी नाम सादृश्यविशिष्टे लक्षणा । यथा सिंहो माणवक इत्यादौ सिंहपदस्य सिंहसादृश्यविशिष्टे लक्षणा । शुद्धा त्रिविधा—जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा

चेति। लक्ष्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमात्रबोधप्रयोजिका लक्षणा जहल्लक्षणा। यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदवाच्यप्रवाहसम्बन्धस्य तीरे सत्त्वात् तादृशशक्य-सम्बन्धरूपलक्षणाज्ञानाद्गङ्गापदात्तीरोपस्थितिः। लक्ष्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्य-शक्योभयबोधप्रयोजिका लक्षणा अजहल्लक्षणा। यथा—काकेभ्यो दधि रक्ष्य-तामित्यत्र काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणा, लक्ष्यतावच्छेदकं दध्युपघातकत्वम् तेन रूपेण दध्युपघातकानां सर्वेषां काकबिडालकुक्कुटसारमेयादीनां शक्य-लक्ष्याणां बोधात्। जहदजहल्लक्षणा यथा तत्त्वमसीत्यत्र सर्वज्ञत्वकिञ्चज्ज्ञत्व-परित्यागेन व्यक्तिमात्रबोधनात् वेदान्तिनां मते। सा च शक्यतावच्छेदकपरि-त्यागेन व्यक्तिमात्रबोध प्रयोजिका।

न्या०—शब्द प्रमाण का निरूपण कहते हुए 'आप्तवाक्यम्' लिखा। इस प्रकार आप्त के उच्चरितत्व के अधिकरण में रहने वाला वाक्यत्व शब्द का लक्षण हुआ। अर्थात् आप्त के द्वारा उच्चरित वाक्य = जैसा कि तर्कसंग्रह के मूल में हो प्रमाप्रमाण शब्दत्व लक्षण किया जा रहा है अतः प्रमाण शब्द लक्ष्य होगा एवं प्रमाण शब्दत्व लक्ष्यता का अवच्छेदक होगा। लक्षण में वाक्यत्व' मात्र रखने पर अनाप्त के द्वारा उच्चरित वाक्य में भी ('वाक्यत्व' रूप) लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, अतः उसमें आप्तोच्चरितत्व का भी निवेश किया जाय, तो' जबगडदश्, आदि वर्णों के भी आप्त के द्वारा उच्चरित होने से उनमें भी 'आप्तोच्चारितत्व' रूप वाक्य के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी अतः लक्ष्य में 'वाक्यत्व' भी रखा गया है। शब्द के प्रयोग का हेतु भूत जो यथार्थ ज्ञान, तद्वत्ता ही आप्तत्व है, अर्थात् आप्त का लक्षण है। क्योंकि वाक्य प्रयोग के प्रति वाक्यार्थ के यथार्थ ज्ञान को ही कारण मानते हैं। इस प्रकार "(शब्द के) प्रयोग का हेतु भूत जो यथार्थज्ञान उससे जन्य जो शब्द, उसमें रहने वाला जो शब्दत्व" यही शब्द प्रमाण का पर्यवसित लक्षण होगा। (यह सब प्राचीनों के मतानुसार विचार किया गया है। आगे नवीनों के मत के अनुसार व्याख्यान किया जा रहा है।)

वास्तव में तो शब्दप्रमा के प्रति पद का ज्ञान करण है अर्थात् 'शब्द प्रमा' का करण है। वृत्तिज्ञान के साथ जो पदज्ञान अर्थात् वृत्तिज्ञान पूर्वक जो

पदज्ञान, उससे जन्या जो उपस्थिति, वही व्यापार है। वाक्य के अर्थ का जो ज्ञान, वही शाब्दबोध कहलाता है, वही शब्द प्रमाण का फल है। वृत्ति—शक्ति और लक्षणा, इन दोनों में अन्यतररूपा है (अर्थात् शक्ति और लक्षणा, यह दो प्रकार की वृत्ति होती है)। घटादि विशेष्यक घटादि पद से जन्य जो बोध, तद्विषयत्व प्रकारक (विशेषणक) जो ईश्वर का सङ्केत, वही शक्ति है। ईश्वरसङ्केत ईश्वरेच्छा को कहते हैं। (इस प्रकार) ईश्वरेच्छा ही शक्ति है, यह सार अर्थ है शक्तत्व पद का धर्मविशेष है और वह शक्ति निरूपकत्वरूप है। इसी प्रकार शक्यत्व अर्थ का धर्म है तथा विषयता सम्बन्ध से शक्त्याश्रयत्वरूप है।

पूर्वोक्त वृत्तियों में से लक्षणा का निरूपण किया जा रहा है। शक्य के सम्बन्ध (को) ही लक्षणा (कहते) है। वह दो प्रकार की होती है गौणी और शुद्धा। सादृश्यविशिष्ट में गौणी लक्षणा होती है। जैसे–'बालक सिंह है' इत्यादि स्थल में सिंह पद की सिंह के सादृश्य से विशिष्ट में लक्षणा होती है। शुद्धा तीन प्रकार की होती है; जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा ओर जहदजहल्लक्षणा। लक्ष्यतावच्छेदक रूप से लक्ष्यमात्र के बोध की प्रयोजिका लक्षणा जहल्लक्षणा कहलाती है। जैसे गङ्गा में घोष (अहीर की झोंपड़ी) है। यहाँ पर गङ्गापद के वाच्य प्रवाह के सम्बन्ध के तीर में होने से उक्त शक्यसम्बन्धरूपलक्षणा के ज्ञान होने से गङ्गापद से 'तीर' (पदार्थ) की उपस्थिति होती है। लक्ष्यतावच्छेदकरूप से लक्ष्य एवं शक्य, इन दोनों के बोध की प्रयोजिका जो लक्षणा, उसे अजहल्लक्षणा कहते हैं। जैसे 'कौओं से दही की रक्षा कीजिए'। यहाँ पर 'काक' पद की दही के उपघातकों में ('चट' कर जानेवालों में) लक्षणा है। क्योंकि लक्ष्यता का अवच्छेदकीभूत जो दध्युपघातकत्व, उस रूप से सभी जो दही के विनाशक, कौआ, बिलाव, मुर्गा, कुत्ता आदि; उन शक्य (कौआ) लक्ष्य-(कौआ के अतिरिक्त दही के विनाशक) सभी का बोध होता है। जहदजहल्लक्षणा वहाँ होती है जैसे 'तत्त्वमसि' (वह तुम हो), यहाँ पर सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व के परित्यागपूर्वक 'व्यक्ति' मात्र का बोध होता है, यह वेदान्तियों का मत है और वह शक्यता के अवच्छेदक के परित्याग के द्वारा व्यक्तिमात्र के बोध की प्रयोजिका है।

आकाङ्क्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः ।

त०—आकाङ्क्षा, योग्यता, और सन्निधि, ये वाक्य के अर्थ के ज्ञान में कारण हैं ।

पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्व-माकाङ्क्षा ।

त०—एक पद का दूसरे पद के अभाव के कारण होने वाला जो अन्वय का अननुभावकत्व अर्थात् अन्वय के बोध के जनकत्व का अभाव, उसे ही आकाङ्क्षा कहते हैं ।

न्यायबोधिनी

आकाङ्क्षां लक्षयति—पदस्येति । अव्यवहितोत्तरत्वादिसम्बन्धेन यत्पदे यत्पदप्रकारकज्ञानव्यतिरेकप्रयुक्तो यादृशशाब्दबोधाभावस्तादृशशाब्दबोधे तत्पदे तत्पदवत्त्वमाकाङ्क्षा । यथा घटमित्यादिस्थलेऽव्यवहितोत्तरत्वादिसम्बन्धेन अम्पदं घटपदवदित्याकारकाम्पदविशेष्यकघटपदप्रकारकज्ञानसत्त्वे घटीयकर्मत्व-मिति बोधो जायते । अम्घट इति विपरीतोच्चारणे तु तादृशज्ञानाभावात् तादृशशाब्दबोधो न जायतेऽतस्तादृशाकाङ्क्षाज्ञानं शाब्दबोधे कारणम् ।

न्या०—आकाङ्क्षा का लक्षण करते हुए मूलकार ने 'पदस्य' इत्यादि कहा । उसका-अव्यवहितोत्तरत्व आदि सम्बन्ध से जिस पद में यत्पदप्रकारक ज्ञान के अभाव से प्रयुक्त (होनेवाला) जिस प्रकार के शाब्दबोध का अभाव, उस प्रकार के शाब्दबोध के प्रति उस पद में तत्पदवत्त्व ही आकांक्षा है । जैसे 'घटम्' इत्यादि स्थल में अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से 'अम्' पद घटपदवाला है इस आकार वाले 'अम्' पदविशेष्यक 'घट' पदप्रकारक ज्ञान के होनेपर 'घटी-यकर्मत्व' यह बोध होता है । 'अम्' 'घट' इस प्रकार के विपरीत उच्चारण होने पर तो उक्त ज्ञान के अभाव के कारण उस प्रकार का शब्दबोध नहीं होता है । अतः उक्त प्रकार का आकांक्षाज्ञान शाब्दबोध के प्रति कारण है ।

अर्थाबाधो योग्यता ।

त०—प्रमाणत्वेन अभिमत शब्दों के अर्थों के अबाध को योग्यता कहते हैं ।

न्यायबोधिनी

अर्थाबाध इति । बाधाभावो योग्यतेत्यर्थः । अग्निना सिञ्चतीत्यत्र सेककरणत्वस्य जलादिधर्मस्य वह्नौ बाधनिश्चयसत्त्वान्न तादृशवाक्याच्छाब्दबोधः ।

न्या०—अबाध का बाधाभाव अर्थ है (अर्थात् वाक्य घटक अर्थों का परस्पर जो सम्बन्ध,) वही (बाधाभाव ही) योग्यता है। 'आग से सींचता है, यहाँ पर जल का ही सेक-करणत्व लोक में प्रसिद्ध है, वह्नि का नहीं। अत, जलादि के धर्म, सेक-करणत्व के वह्नि में बाध के निश्चय होने से उस प्रकार के वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता है।

पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः ।

त०—पदों का अविलम्ब से उच्चारण ही सन्निधि है।

न्यायबोधिनी

सन्निधिं निरूपयति—पदानामिति ।

न्या०—सन्निधि का तिरूपण करते हुए 'पदानाम्' इत्यादि लिखा। [अविलम्बोच्चारण का सहोच्चारण अर्थ है, अर्थात् पदों का शीघ्रता के साथ किया हुआ उच्चारण]।

तथा च आकाङ्क्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम् । यथा-गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणम्—आकाङ्क्षाविरहात् । वह्निना सिञ्चतीति न प्रमाणम्—योग्यताविरहात् । प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि गामानयेत्यादिपदानि न प्रमाणम्—सान्निध्याभावात् ।

त०—इस प्रकार आकाङ्क्षा आदि (योग्यता, सन्निधि) से रहित वाक्य अप्रमाण हैं (प्रमाण नहीं है। जैसे 'गौ अश्व, पुरुष, हस्ती' यह पदसमूहरूप वाक्य आकांक्षा से रहित होने के कारण प्रमाण नहीं है। योग्यता के विरह (अभाव) के कारण-'आग से सींचता है' यह वाक्य भी प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार एक-एक प्रहर के बाद असह (देर से) उच्चारित 'ग्राम्·····आनय' (गौ को ·····ले आओ इत्यादि वाक्य भी सन्निधि के अभाव के कारण प्रमाण नहीं हैं।

न्यायबोधिनी

असहोच्चारितानि—विलम्बोचारितानि ।

न्या०—असह उच्चारित का विलम्ब से उच्चारित अर्थ है ।

वाक्यं द्विविधम्—वैदिकं लौकिकं च ।

त०—वाक्य दो प्रकार का होता है-वैदिक और लौकिक ।

वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्सर्वमेव प्रमाणम् ।

त०—ईश्वर के द्वारा उक्त होने के कारण सभी वैदिक (वाक्य, प्रमाण हैं ।

न्यायबोधिनी

वैदिकमिति । वेदवाक्यमित्यर्थः । इदमुपलक्षणम् । वेदमूलस्मृत्यादीन्यपि ग्राह्याणि ।

न्या०—वैदिक शब्द का वेदवाक्य अर्थ है । यह वैदिक शब्द उपलक्षण है अर्थात् वेद से अतिरिक्त वेदमूलक स्मृति आदि का भी ग्राहक है ।

लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम् । अन्यदप्रमाणम् ।

त०—लौकिक वाक्य तो आप्त के द्वारा कहा हुआ ही (केवल) प्रमाण है । अन्य के द्वारा कहा हुआ लौकिक वाक्य तो अप्रमाण हों होता है ।

न्यायबोधिनी

लौकिकं त्विति । वेदवाक्यभिन्नमित्यर्थः । (आप्तत्वं च प्रयोगहेतुभूत-यथार्थज्ञानवत्त्वम्) ।

न्या०—लौकिक शब्द का अर्थ वेदवाक्य से भिन्न वाक्य है । (शब्द प्रयोग का हेतुभूत जो यथार्थज्ञान, तद्वत्त्व, यही आप्तत्व है, अर्थात् आप्तका लक्षण है ।)

वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम् । तत्करणं तु शब्दः ।

त०—वाक्य के अर्थ के ज्ञान को ही शब्दज्ञान कहते हैं । अतः उसका शब्द (ही) करण है ।

इति न्यायबोधिन्यां शब्दपरिच्छेदः ।

★ ★ ★

अथावशिष्टपरिच्छेदः

अयथार्थानुभवस्त्रिविधः—संशयविपर्ययतर्कभेदात् ।

त०—अयथार्थ अनुभव अर्थात् अप्रमा (अज्ञान) तीन प्रकार का होता है-संशय, विपर्यय और तर्क के भेद से ।

न्यायबोधिनी

यथार्थानुभवं निरूप्यायथार्थानुभवं विभजते—संशयेत्यादिना ।

न्या०—यथार्थानुभव के निरूपण के पश्चात अयथार्था नुभव का निरूपण करते हुए 'संशय' इत्यादि लिखा ।

एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः । यथा-स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ।

त०—एक धर्मी में विरुद्ध नाना (अनेक) धर्मों के वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) का अवगाहि जो ज्ञान, उसे संशय कहते हैं। जैसे (दूर से किसी वस्तु को देखने पर होनेवाला) यह स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष (अर्थात् कोई आदमी) यह ज्ञान (संशय है) ।

न्यायबोधिनी

एकेति । एकधर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितभावाभावप्रकारकज्ञानं संशय इत्यर्थः । भावद्वयकोटिकसंशयाप्रसिद्धेः स्थाणुर्वेत्यत्र स्थाणुत्वस्थाणुत्वाभावपुरुषत्वपुरुषत्वाभावकोटिक एव संशय इत्यर्थः ।

न्या०—मूल के 'एकस्मिन्' इत्यादि कथन का निष्कृष्ट अर्थ यह है कि—एक धर्म से अवच्छिन्ना जो विशेष्यता, उससे निरूविता जो भाव अभाव (उभय) निष्ठा प्रकारता (विशेषणता) तन्निरूपित जो ज्ञान, वही संशय है ।

मिथ्याज्ञानं विपर्ययः । यथा-शुक्तौ 'रजतम्' इति ।

त०—मिथ्याज्ञान, अर्थात् दूसरो वस्तु में दूसरे वस्तु के होनेवाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं । जैसे-शुक्ति (सीप) में चाँदी का होनेवाला ज्ञान ।

न्यायबोधिनी

मिथ्याज्ञानमिति । अयथार्थज्ञानमित्यर्थः । विपर्ययो नाम भ्रमः ।

न्या०—मिथ्याज्ञान का अयथार्थज्ञान अर्थ है। विपर्यय भ्रम को कहते हैं।

व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः । यथा-यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति ।

त०—व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप करना ही तर्क कहलाते है। जैसे 'यदि आग न होती तो धूम भी नहीं होता' यह तर्क है।

न्यायबोधिनी

व्याप्यारोपेणेति । तर्के व्याप्यस्य व्यापकस्य च बाधनिश्चयः कारणम्, अन्यथा बाधनिश्चयाभावे इष्टापत्तिदोषेण तर्कानुत्पत्तेः ।

न्या०—तर्कमें अर्थात् तर्क के प्रति व्याप्य और व्यापक के (पक्ष में) बाध अर्थात् अभाव का निश्चय ही कारण है। अन्यथा बाध के निश्चय के अभाव होने पर इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाने के कारण तर्क की उत्पत्ति ही नहीं होगी।

स्मृतिरपि द्विविधा—यथार्था अयथार्था च । प्रमाजन्या यथार्था, अप्रमाजन्या अयथार्था ।

त०—स्मृति भी दो प्रकार की होती है-यथार्थ और अयथार्थ। प्रमा (यथार्थज्ञान) सेजन्या स्मृति यथार्थ स्मृति है तथा अप्रमा (अयथार्थज्ञान) से जन्या अयथार्था।

सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम् ।

त० [सबको] अपने अनुकूल जो लगे, वही सुख है अर्थात् किसी को भी किसी भी वस्तु का अपने अनुकूल लगना ही सुख कहलाता है।

न्यायबोधिनी

सुखं निरूपयति-सर्वेषामिति । इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वमिति निष्कर्षः । यथाश्रुते घटोऽनुकूल इत्याकारकज्ञानदशायामनुकूलत्वप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वस्य

घटादावपि सत्त्वाद्घटादावतिव्याप्तिरिति निष्कृष्टलक्षणम् मुक्तम्। सुखेच्छाधीने भोजनादावतिव्याप्तिवारणाय इतरेच्छानधीनेतीच्छाविशेषणम्। सुखेच्छा तु सुखत्वप्रकारकज्ञानमात्रजन्यैव।

न्या०—सुख का निरूपण करते हुए मूल में 'सर्वेषां०' आदि लिखा। दूसरों की इच्छा के अधीन जो इच्छा न हो, उसका विषयत्व ही सुख का निष्कर्ष अर्थ (लक्षण) है। अन्यथा मूलोक्त शब्द के अनुसार तो 'घट अनुकूल है' इस प्रकार के ज्ञान होने पर अनुकूलत्वप्रकारक-ज्ञानविशेष्यत्व के घटादि में भी रहने के कारण सुख के लक्षण की घटादि में भी अतिव्याप्ति होने लगेगी। सुखेच्छा के अधीन जो भोजन आदि, उसमें सुख के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाय, इसके लिए "इतर इच्छा के अधीन जो इच्छा न हो" यह विशेषणांश सुख के लक्षण में दिया। (भोजन आदि तो भोजनेच्छा के विषय हैं और वह भोजनेच्छा सुखेच्छा के अधीन है। अतः सुखेच्छारूप इतर इच्छा के अधीन जो भोजनेच्छा उसके विषय भोजनादि में सुख के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी)। (सुखेच्छा तो इतर इच्छा के अधीन इच्छा नहीं हैं, अतः उस के विषय सुख में इतर इच्छा के अनधीन इच्छा के विषयत्व रूप सुख के लक्षण का समन्वय हो जाता है। यही सब सोचकर लिखा कि—) सुखेच्छा तो मात्र सुखत्वप्रकारक ज्ञान से जन्या है अर्थात् इतर इच्छा के अधीन इच्छा नहीं है॥

प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।

त०—(किसी को भी किसी भी वस्तु का) अपने प्रतिकूल लगना ही दुःख कहलाता है।

न्यायबोधिनी

दुःखं निरूपयति—प्रतिकूलेति। अत्रापीतरद्वेषानधीनद्वेषविषयत्वमिति-निष्कृष्टलक्षणम्। द्वेषविषयत्वमात्रोक्तौ सर्पादावतिव्याप्तिस्तत्रापि द्वेषविषयत्व-सत्त्वादतस्तत्रातिव्याप्तिवारणायेतरद्वेषानधीनेति द्वेषविशेषणम्। सर्पजन्य-दुःखादौ द्वेषात्सर्पेऽपि द्वेष इति सर्पद्वेषस्य सर्पजन्यदुःखद्वेषजन्यत्वादन्यद्वेषाजन्य-द्वेषविषयत्वरूपदुःखलक्षणस्य सर्पादौ नातिव्याप्तिः। फलेच्छा उपायेच्छां प्रति कारणम्, अतः फलेच्छावशादुपायेच्छा भवति। एवं फले द्वेषादुपाये द्वेषः।

न्या०—दुःख का निरूपण करते हुए मूल में 'प्रतिकूलवेदनीयम्' लिखा। यहाँ पर भी दूसरे द्वेष के अधीन जो द्वेष न हो, उस का विषयत्व, यही दुःख का निष्कृष्ट लक्षण समझना चाहिए। द्वेष विषयत्व मात्र दुःख का लक्षण करने पर तो सर्प आदि में भी दुख के लक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी, क्योंकि यहाँ पर सर्पादि में भी द्वेषविषयत्व है ही। अतः इस अतिव्याप्ति दोष के वारण के लिए दुःख के लक्षण में 'इतरद्वेष के अधीन जो द्वेष न हो' यह विशेषणांश भी रखा है। सर्प से जन्य जो दुःख आदि, उनमें द्वेष होने के कारण ही सर्प में भी द्वेष होता है। अतः सर्पद्वेष के-सर्प के जन्य जो दुःख उस द्वेष से जन्य होने के कारण 'अन्यद्वेष से अजन्य जो द्वेष, तद्विषयत्वरूप दुःख के लक्षण की सर्प आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती। फलेच्छा (फल की इच्छा) उपायेच्छा के प्रति कारण है, अतः फलेच्छावश ही उपायेच्छा होती है। इसी प्रकार फल के प्रति द्वेष होने से उपाय के प्रति भी द्वेष होता है।

इच्छा कामः।

त०—इच्छा काम को कहते हैं। (काम=कामना)।

क्रोधो द्वेषः।

त०—द्वेष क्रोध को कहते हैं।

कृतिः प्रयत्नः।

त०—प्रयत्न कृति को अर्थात् चेतन के व्यापार को कहते हैं।

विहितकर्मजन्यो धर्मः।

त०—विहित कर्म से जन्य जो गुण उसे धर्म कहते हैं।

न्यायबोधिनी

धर्माधर्मौ निरूपयति—विहितेति। वेदविहितेत्यर्थः।

न्या०—विहित का वेदविहित अर्थ है।

निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः।

त०—निषिद्ध कर्म से जन्य गुण को अधर्म कहते हैं।

न्यायबोधिनी

निषिद्धेति । वेदनिषिद्धेत्यर्थः ।

न्या०—निषिद्ध का भी वेदनिषिद्ध अर्थ है ।

बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः । बुद्धीच्छाप्रयत्ना नित्या अनित्याश्च । नित्या ईश्वरस्य, अनित्या जीवस्य ।

त०—बुद्धि आदि आठ गुण मात्र आत्मा के विशेष गुण हैं । बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न, ये नित्य और अनित्य हुआ करते हैं । ईश्वरगत ये तीनों गुण नित्य होते हैं, तथा जीवगत अनित्य ।

न्यायबोधिनी

बुद्ध्यादयोऽष्टाविति । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा इत्यर्थः ।

न्या०—'बुद्ध्यादि आठ' का बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म यह अर्थ है ।

संस्कारस्त्रिविधः—वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति ।

त०—संस्कार तीन प्रकार का होता है—वेग, भावना और स्थिति-स्थापक ।

न्यायबोधिनी

संस्कारं विभजते—संस्कार इति ।

वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः ।

त०—पृथिवी आदि (जल, तेज, वायु) चार और मन में वेग नामक संस्कार रहता है । [पृथिवी आदि (जल तेज वायु) चार और मन में रहने वाले संस्कार को वेग कहते हैं ।]

अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना, आत्ममात्रवृत्तिः ।

त०—अनुभव से जन्य एवं स्मृति का हेतु (कारण) जो संस्कार, उस को भावना कहते हैं । यह मात्र आत्मा में रहने वाला है ।

न्यायबोधिनी

भावनां लक्षयति—अनुभवेति। अनुभवजन्यत्वे सति स्मृतिहेतुत्वं भावना-लक्षणम्। अत्रानुभवजन्यत्वे सतीति विशेषणानुपादाने आत्ममनः संयोगेऽति-व्याप्तिरात्ममनः संयोगस्य ज्ञानमात्रं प्रत्यसमवायिकारणत्वेन स्मृतिं प्रत्यपि कारणत्वादतस्तदुपादानम्, आत्ममनःसंयोगस्यानुभवजन्यत्वाभावान्नातिव्याप्तिः। तावन्मात्रे कृतेऽनुभवध्वंसेऽतिव्याप्तिः—ध्वंसं प्रति प्रतियोगिनः कारणत्वेनानु-भवध्वंसस्याप्यनुभवजन्यत्वात्, अतः स्मृतिहेतुत्वोपादानम्। अनुभवध्वंसे स्मृति-हेतुत्वाभावान्नाप्रतिव्याप्तिः।

ननु विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणता सकलतान्त्रिकमतसिद्धा, यथा दण्डविशिष्टबुद्धिं प्रति दण्डज्ञानं कारणम्। दण्डविशिष्टबुद्धिर्नाम दण्ड-प्रकारकबुद्धिः, तथाच दण्डप्रकारकबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति दण्डज्ञानत्वेन कारणत्व-मित्यापतितम्, दण्डप्रकारकबुद्धिः दण्डी पुरुष इत्याकारकबुद्धिस्तत्र दण्डज्ञानं कारणम् न हि दण्डमजानानः पुमान् 'दण्डी पुरुषः' इति प्रत्येति। एवं च यत्रायं दण्ड इति प्रत्यक्षं जातं तदनन्तरं 'दण्डी पुरुष' इत्याकारकप्रत्यक्षमुत्पन्नं तत्र 'दण्डी पुरुष' इत्याकारकप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः। तद्धि स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नदण्डज्ञाना-त्मकानुभवजन्यं, जनिष्यमाणे दण्डी पुरुष इत्याकारकस्मरणे कारणं च, स्मृतिं प्रत्यनुभवस्य कारणत्वात् तथा चानुभवजन्यत्वे सति स्मृतिहेतुत्वरूपभावनालक्ष-णस्य यथोक्त—दण्डी पुरुष-इत्याकारकानुभवे विद्यमानत्वादतिव्याप्तिरिति चेत्।

अत्र ब्रूमः—अनुभवजन्यत्वं हि अनुभवत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यता-श्रयत्वम्। तत्र कारणतायामनुभवत्वावच्छिन्नत्वं निवेश्यते। तथा चानुभवत्वा-वच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यताश्रयत्वमिति फलितम्, अतो नोक्तातिव्याप्तिः। तथा हि—दण्डप्रकारकबुद्धित्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितदण्डज्ञाननिष्ठा या कारणता तस्यां न दण्डानुभवत्वमवच्छेदकं दण्डानुभवादिव दण्डस्मरणादपि दण्डप्रकारकबुद्धेरुत्पत्तेः। दण्डप्रकारकबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति अनुभवस्मरण-साधारणदण्डज्ञानत्वेनैव दण्डज्ञानस्य कारणतायाः स्वीकरणीयत्वेन दण्डज्ञानत्व-स्यैव तदवच्छेदकत्वात्। तथा चानुभवत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यत्व-स्योक्तप्रत्यक्षेऽभावान्नातिव्याप्तिः।

भावनायां तु लक्षणमिदं वर्तते ।

तथा हि—अनुभवेनैव भावनाख्यसंस्कारोत्पत्त्या भावनात्वावच्छिन्नं प्रत्यनुभवस्यानुभवत्वेनैव कारणतया भावनात्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितानुभवनिष्ठकारणतायामनुभवत्वमवच्छेदकम्, अतोऽनुभवत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यताश्रयत्वं भावनायां वर्तते इति नासम्भवः ।

नन्वेवं स्मृतिहेतुत्वविशेषणवैयर्थ्यम्, तद्धचनुभवध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय प्रागुपात्तम्, न हि यथोक्तानुभवजन्यत्वविवक्षायामनुभवध्वंसेऽतिव्याप्तिः प्रसज्यते, तथाहि—ध्वंसत्वावच्छिन्नं प्रति प्रतियोगिनः कारणत्वं प्रतियोगित्वेन रूपेण, तत्तद्ध्वंसत्वावच्छिन्नं प्रति च तत्तत्प्रतियोगिव्यक्तेस्तत्तद्व्यक्तित्वेनेत्येव ध्वंसप्रतियोगिनोः कार्यकारणभावः । तथा च ध्वंसनिष्ठकार्यतानिरूपिता याऽनुभवनिष्ठा कारणता तस्यां प्रतियोगित्वमवच्छेदकं तत्तद्व्यक्तित्वं च, न त्वनुभवत्वमपीत्यनुभवध्वंसेऽनुभवत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यताश्रयत्वरूपानुभवजन्यत्वविरहेणैवातिव्याप्तिवारणसम्भवात्कृतं स्मृतिहेतुत्वविशेषणेनेति चेत् ?

न, स्मृतावतिव्याप्तिवारणायैव तदुपादानात् । तथाहि—स्मृतिं प्रत्यनुभव एव कारणं न तु स्मृतिरप्यतो घटस्मृतित्वावच्छिन्नं प्रति घटानुभवस्य घटानुभवत्वेनैव कारणत्वं न तु घटज्ञानत्वेन, तथा च घटस्मृतिनिष्ठकार्यतानिरूपिता या घटानुभवनिष्ठा कारणता तस्यां घटानुभवत्वमवच्छेदकम्, तेनानुभवत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यताश्रयत्वस्य स्मृतौ विद्यमानत्वादतिव्याप्तिवारणाय स्मृतिहेतुत्वमुक्तम् । न हि स्मृतिः स्मृतिहेतुः, अतो न तत्रातिव्याप्तिरित्यलं पल्लवतल्लजकल्पानल्पजल्पनेन ।

न्या०—भावना का निरूपण करने हुए' मूल में 'अनुभवजन्या' इत्यादि लिखा । उसके अनुसार—अनुभवजन्यत्व के अधिकरण में रहनेवाला स्मृतिहेतुत्व ही भावाना का लक्षण होगा । (अर्थात् जो अनुभव से जन्य होते हुए स्मृति का जनक हो, उस संस्कार को भावना कहते हैं ।) भावना के लक्षण में यदि 'अनुभवजन्यत्वे सति' इस विशेषणांश को नहीं रखा जायगा, तब तो आत्मा और मनः संयोग के ज्ञानमात्र के प्रति असमवायिकारण होने से स्मृति के प्रति भी उस की कारणता सिद्ध ही है । इस प्रकार 'स्मृतिहेतुत्व' रूप

भावना के लक्षण की आत्ममनः संयोग में भी अतिव्याप्ति होने लगेगी। अतः यह अतिव्याप्ति न हो, इसलिए विशेषणांश का भी लक्षण में उपादान अर्थात् ग्रहण किया गया है। इस प्रकार स्मृति का हेतु (कारण) होने पर भी आत्म-मनः संयोग के अनुभव से जन्य न होने के कारण भावना के लक्षण की उस में अतिव्याप्ति नहीं होगी। यदि केवल विशेषणांश ही लक्षण में रखा जाय, तब तो ध्वंस के प्रति ध्वंस के प्रतियोगी की कारणता सिद्ध है, इस प्रकार अनुभव-ध्वंस में भी अनुभवजन्यत्व के होने से उसमें भी भावना के लक्षण की अति-व्याप्ति होगी। अतः भावना के लक्षण में 'स्मृतिहेतुत्व' का भी ग्रहण किया गया है। इस प्रकार अनुभवध्वंस में स्मृतिहेतुत्व के न होने से उस में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यदि यह कहा जायकि विशिष्टबुद्धि के प्रति विशेषणज्ञान की कारणता सकलतन्त्रों में अर्थात् सभी शास्त्रों के मत से सिद्ध है [मानी जाती है]। जैसे 'दण्डविशिष्टबुद्धि' का अर्थ है—दण्ड प्रकारक बुद्धि। इस प्रकार दण्ड प्रकारकबुद्धित्वावच्छिन्न के प्रति दण्डज्ञानत्व रूप से कारणत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। दण्ड प्रकारक बुद्धि 'दण्डी पुरुषः' रूपा बुद्धि है। वहाँ [अर्थात् उस में] दण्डज्ञान कारण है। दण्ड को न जानने वाले आदमी को 'दण्डी पुरुष' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रकार यह मान लेने पर जहाँ 'यह दण्ड है' ऐसा प्रत्यक्ष हो गया हो, उसके बाद 'दण्डी पुरुषः' यह प्रत्यक्ष उत्पन्न हुआ, वहाँ पर 'दण्डी पुरुषः' इस प्रत्यक्ष में भी पूर्वोक्त विशेष्य विशेषण दलयुक्त भावना के लक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी। क्योंकि वह 'दण्डी पुरुष' रूप प्रत्यक्ष स्व से अव्यवहित पूर्वक्षण में उत्पन्न जो दण्डज्ञान रूप अनुभव उससे जन्य है, तथा भविष्य में 'दण्डी पुरुषः' रूप होने वाले स्मरण में कारण भी है, क्योंकि स्मृति के प्रति अनुभव की कारणता सर्वसिद्धसिद्धान्त है। इस प्रकार अनुभवजन्यत्वे सति स्मृतिहेतुत्वरूप भावना के लक्षण की उक्त 'दण्डी पुरुष' रूप अनुभव में विद्यमानता होने के कारण अतिव्याप्ति होगी।

तो इसका उत्तर होगा कि अनुभवजन्यत्व का अनुभवत्व से अवच्छिन्न जो कारणता, उस से निरूपिता जो कार्यता 'असकाआश्रयत्व' अर्थ है। अर्थात्

कारणता में अनुभवत्वावच्छिन्न का निवेश किया जा रहा है। इस प्रकार अनुभवत्व से अवच्छिन्ना जो कारणता, उससे निरूपिता जो कार्यता, तदाश्रयत्वरूप अनुभवजन्यत्व फलित होता है। अतः उक्त अतिव्याप्ति नहीं होती है। क्योंकि दण्डप्रकारक बुद्धित्व से अवच्छिन्ना यो कार्यता, उससे निरूपिता दण्डज्ञान में रहने वाली जो कारणता, उसका दण्डानुभवत्व अवच्छेदक नहीं है, क्योंकि जैसे दण्डानुभव से दण्डप्रकारक बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसे ही दण्डस्मरण से भी होती है। अतः दण्डप्रकारकबुद्धित्वावच्छिन्न के प्रति अनुभव एवं स्मरण, उभय साधारण जो दण्डज्ञानत्व उसी रूप से दण्डज्ञान की कारणता स्वीकार करनी पड़ेगी। अतः दण्डज्ञानत्व को ही कारणता का अवच्छेदकत्व सिद्ध होता है। परन्तु यह निष्कृष्ट लक्षण भावना में चला जाता है। उसे इस प्रकार समझना चाहिए।

अनुभव से ही भावना नामक संस्कार की उत्पत्ति होने से भावनात्वावच्छिन्न के प्रति अनुभव की अनुभवत्व रूप से कारणता है, अतः भावनात्व से अवच्छिन्ना जो कार्यता, उससे निरूपिता जो अनुभव में रहने वाली कारणता, उसका अनुभवत्व ही अवच्छेदक है। अतः अनुभवत्व से अवच्छिन्ना जो कारणता, उस से निरूपिता जो कार्यता, उस का आश्रयत्व भावना में चला जाता है, अतः लक्षण का समन्वय हो जाता है, असंभव नहीं।

अरे! इस प्रकार के भावना के लक्षण के स्वीकार करने पर तो उस लक्षण में अनुभवध्वंस में लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए ग्रहण किया गया 'स्मृतिहेतुत्व' रूप जो विशेष्यांश है, उस का वैयर्थ्य ही सिद्ध होता है; क्यों कि जिस प्रकार का अनुभवजन्यत्व अभी अभी कहा गया है, उस के मान लेने पर 'स्मृतिहेतुत्व' के अभाव में भी अनुभव के ध्वंस में भावना के लक्षण की अतिव्याप्ति की प्रसक्ति नहीं होती है क्योंकि ध्वंसत्व से अवच्छिन्न के प्रति प्रतियोगी का कारणत्व प्रतियोगित्व रूप से है। तत्तद्ध्वंसत्वावच्छिन्न के प्रति तत्तत् प्रतियोगी व्यक्तियों का कारणत्व, तत्तद्व्यक्तित्वरूप से ही होता है। यही ध्वंस और उसके प्रतियोगी का कार्यकारण भाव है। तथा ध्वंस में रहने वाली जो कारणता, उससे निरूपिता जो अनुभव में रहने वाली कारणता

उसमें प्रतियोगित्व और तत्तद्व्यक्तित्व अवच्छेदक हैं, न कि अनुभवत्व भी इस प्रकार अनुभवध्वंस में अनुभवत्व से अवच्छिन्ना जो कारणता, उससे निरूपिता जो कार्यता, उसके आश्रयत्व रूप अनुभव जन्यत्व के अभाव के कारण ही अतिव्याप्ति दोष का वारण सम्भव है 'स्मृतिहेतुत्व' रूप विशेष्यांश के ग्रहण की लक्षण में क्या आवश्यकता है ? यदि कहा जाय तो ठीक नहीं, क्योंकि स्मृति में भावना के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाय, इसके लिए लक्षण में 'स्मृतिहेतुत्व' रूप विशेष्य दल रखना अनिवार्य है। क्योंकि स्मृति के प्रति अनुभव ही कारण है, न कि स्मृति भी। अतः घटस्मृतित्वावच्छिन्न के के प्रति घटानुभव की कारणता घटानुभवत्व रूप से ही है, न कि घटज्ञानत्व रूप से भी। इस प्रकार घटस्मृति में रहने वाला जो कार्यता, उससे निरूपिता जो घटानुभव में रहने वाला कारणता, उसमें घटानुभवत्व ही अवच्छेदक है। अतः अनुभवत्व से अवच्छिन्ना जो कारणता, उससे निरुपिता जो कार्यता, उस के आश्रयत्व का स्मृति में विद्यमानत्व होने से भावना के लक्षण की स्मृति में अतिव्याप्ति होने लगेगी। अतः उसके वारण के लिए' स्मृतिहेतुत्व, यह लक्षण में विशेष्यांश सार्थक ही है। इस प्रकार स्मृति, स्मृति का हेतु अर्थात् कारण नहीं है, अतः उसमें भावना के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। अब यह भावना के विषय में पर्याप्त विचार हो गया। अब इससे आगे की प्रशस्तपल्लव के समान जो अनल्प (अधिक) कल्पना है वह व्यर्थ ही है।

अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थापादकः स्थितिस्थापकः, कटादिपृथिवीवृत्तिः। इति गुणाः।

त०—जिस संस्कार के कारण दूसरे रूप में बनाई हुई वस्तु फिर अपनी पहली अवस्था में आ जाती है, उसे स्थितिस्थापक संस्कार कहते हैं। यह संस्कार चटाई, वस्त्र आदि रूप में रहने वाली पृथिवी में रहता है।

।। इस प्रकार गुण का निरूपण समाप्त हो गया ।।

चलनात्मकं कर्म। ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्। अधो-

देशसंयोगहेतुरपक्षेपणम् । शरीरस्य सन्निकृष्टसंयोगहेतुराकुञ्चनम् । विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम् । अन्यत्सर्वं गमनम् ॥

त०—चलनात्मक क्रिया को कर्म कहा गया है । ऊपर के देश के संयोग के हेतु को उत्क्षेपण कहते हैं । नीचे के देश के संयोग के हेतु को अपक्षेपण कहते हैं । शरीर के सन्निकट (निकटस्थ देश) के संयोग को आकुञ्चन (बटोरना) कहते हैं । शरीर के विप्रकृष्ट (दूरस्थ देश) के संयोग को प्रसारण (फैलना) कहते हैं तथा इन सभी से भिन्न जो कर्म, उन सभी को गमन कहते हैं ।

नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम् । द्रव्यगुणकर्मवृत्ति । परं सत्ता, अपरं द्रव्यत्वादि ।

त०—नित्य, एक एवं अनेक में रहने वाले पदार्थ को सामान्य (जाति) कहते हैं । यह द्रव्य, गुण एवं कर्म, इन तीन में रहता है । (यह दो प्रकार का होता है—पर और अपर) । पर सामान्य सत्ता को कहते हैं एवं अपर सामान्य द्रव्यत्व आदि कहलाता है ।

न्यायबोधिनी

सामान्यं निरूपयति—नित्यमेकमिति । नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यलक्षणम् । नित्यत्वविशेषणानुपादानेऽनेकसमवेतत्वस्य संयोगादौ सत्वात्तत्राति-व्याप्तिस्तद्वारणाय नित्यत्वविशेषणम् । अनेकसमवेतत्वानुपादाने नित्यत्वमात्रोपादाने आकाशादावतिव्याप्तिस्तद्वारणायानेकसमवेतत्वम् । अनेकसमवेतत्वानुपादाने नित्यत्वविशिष्टसमवेतत्वमात्रोक्तावाकाशगतैकत्वपरिमाणादौ जलपरमाणुगतरूपादौ चातिव्याप्तिः, जलपरमाणुगतरूपादेराकाशगतैकत्वपरिमाणादेर्नित्यत्वात् समवेतत्वाच्च, अतः अनेकेति समवेतविशेषणम् ।

न्या०—सामान्य का निरूपण करते हुए मूल में 'नित्यमेकम्०' इत्यादि लिखा । 'नित्यत्व के अधिकरण में रहने वाला अनेक समवेतत्व' सामान्य का लक्षण है । अर्थात् जो नित्य होते हुए अनेक व्यक्तियों में समवेत (समवाय

सम्बन्ध से सम्बद्ध) हो, उसे जाति या सामान्य कहते हैं। सामान्य के लक्षण में नित्यत्व विशेषण यदि नहीं देंगे, तो अनेकसमवेतत्वरूप सामान्य के लक्षण के संयोगादि में भी होने से उसमें भी लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अतः उसके वारण के लिए नित्यत्व विशेषण लक्षण में दिया है। यदि 'अनेकसमवेतत्व' न रखा जाय, तथा 'नित्यत्व' मात्र सामान्य का लक्षण रखा जाय तो आकाशादि में भी सामान्य के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी (क्योंकि न्यायमत में आकाशादिक नित्य हैं)। उसके वारण के लिए लक्षण में 'अनेकसमवेतत्व' भी रखा है। यदि 'समवेतत्व' में 'अनेक' विशेषण न देंगे, तो 'नित्यत्वविशिष्टसमवेतत्व' मात्र ही लक्षण होगा। तब आकाशगत एकत्व परिमाणादि एवं जलपरमाणुगतरूप आदि में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि जलपरमाणुगत रूप आदि एवं आकाशगत एकत्व परिमाण आदि नित्य भी हैं, तथा जलपरमाणु एवं आकाश में समवेत भी हैं, अर्थात् समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। यह अतिव्याप्ति न हो सके, इसलिए लक्षण के घटक 'समवेतत्व' में 'अनेक' यह विशेषण दिया।

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः।

त०—नित्य द्रव्यों में रहने वाले तथा व्यावर्तक जो पदार्थ वे विशेष कहलाते हैं।

न्यायबोधिनी

नित्यद्रव्यवृत्तय इति। नित्यद्रव्येषु परमाण्वादिषु वर्तमानाः, अत एव व्यावर्तकाः—इतरभेदानुमितिहेतवः—नित्यद्रव्यवृत्तित्वरूपपक्षधर्मताप्रयोज्येतरभेदानुमापकताशालिन इत्यर्थः। नित्यद्रव्यनिष्ठविशेष्यतानिरूपितैकमात्रवृत्तिभेदानुमितिजनकतावच्छेदकप्रकारताश्रयत्वं विशेषाणां लक्षणमिति भावः।

पार्थिवपरमाणौ जलादिभेदानुमापकगन्धेऽतिव्याप्तिवारणाय एकमात्रवृत्तित्वं भेदविशेषणम्। घटादौ तदितरभेदानुमापके तद्रूपादावतिव्याप्तिवारण निरूपितान्तं प्रकारताविशेषणम्। एतेन 'व्यावर्तका' इत्यस्य नित्यद्रव्यविशेष्यकेतरभेदानुमितिप्रयोजका इत्यर्थकतया लक्षणपरत्वेन साफल्येऽपि नित्यद्रव्यवृत्तय इति विफलमेव स्वरूपाख्यानस्यापि कृतत्वादिति प्रत्युक्तम्।

न्या०—'नित्यद्रव्य वृत्तयो०' इत्यादि का "नित्यद्रव्यों में अर्थात् परमाणु आदिकों में वर्तमान, अर्थात् विद्यमान रहने वाले, इसीलिए व्यावर्तक, अर्थात् (नित्य द्रव्य परमाणु आदिकों में) दूसरे परमाणुओं में भेद के अनुमिति के जो हेतु (कारण); अर्थात् नित्य द्रव्यों में वृत्तित्वरूप जो पक्षधर्मता, उससे प्रयोज्य जो इतरभेद, (दूसरे का भेद) उसकी जो अनुमापकता (अनुमापन=अनुमिति कराने की जो शक्ति) उससे युक्त विशेष होते हैं" अर्थ है। अर्थात् नित्यद्रव्य में रहने वाली जो विशेष्यता, उससे निरूपिता मात्र एक में रहने वाले भेद के अनुमिति की जनकता की अवच्छेदिका जो प्रकारता, उसका आश्रयत्व विशेषों का लक्षण है, उपर्युक्त कथन का यही भाव है।

पार्थिव परमाणु में जलादि भेद का अनुमापक जो गन्ध, उसमें विशेष के लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए 'एकमात्र वृत्तित्व' (मात्र=केवल, एक में रहना) विशेषण भेद में दिया। घट आदि में उनसे इतर के भेद के अनुमापक जो घट आदि के रूप, उन में विशेष के लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए लक्षणघटक प्रकारता का 'निरूपित' पर्यन्त विशेषण लगाया है। इससे व्यावर्तक है' इसका नित्यद्रव्य के विशेष्यक (अर्थात् नित्य द्रव्य हो विशेष्य जिन में) एवं इतर भेद की अनुमिति के प्रयोजक' यह अर्थ होने से लक्षण परत्व के होने से अर्थात् लक्षण में आवश्यक होने से 'व्यावर्तक' इस अंश के साफल्य के होने पर भी 'नित्यद्रव्यवृत्ति' यह विशेषणांश तो विफल ही है।

नित्यसम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्धवृत्तिः। ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदवस्थमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। यथा अवयवावयविनौ गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावन्तौ जातिव्यक्ती विशेषनित्यद्रव्ये चेति।

त०—समवाय, नित्यसम्बन्ध है। अयुतसिद्धों में रहता है। जिन दो के मध्य में एक अविनश्यत् अर्थात् अविनष्ट होता हुआ अर्थात् विनाश होने की अवस्था से भिन्न अवस्था में, दूसरे के आश्रित ही रहता हो, वे दोनों अयुतसिद्ध

कहलाते हैं। जैसे-अवयव और अवयवी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति, तथा (नित्य द्रव्य में रहने वाली) विशेष और नित्यद्रव्य ये सब अयुतसिद्ध हैं। [अतः उनमें समवाय सम्बन्ध ही होता है]॥

न्यायबोधिनी

समवायं निरूपयति—नित्येति। सम्बन्धत्वं विशिष्टप्रतीतिनियामकत्वम्। तावन्मात्रोक्तौ संयोगेऽव्याप्तिरतो नित्य इति विशेषणम्। ययोर्द्वयोर्मध्य इति। यन्निष्ठकालनिरूपिताधेयतासामान्यं यदवच्छिन्नं तदुभयान्यतरत्वमयुतसिद्धत्वमित्यर्थः।

न्या०—समवाय का निरूपण करते हुए "नित्यसम्बधः" लिखा। विशिष्ट प्रतीति का नियामकत्व ही सम्बन्धत्व है अर्थात् सम्बन्ध का लक्षण है। यदि समवाय का लक्षण 'सम्बन्धत्व' मात्र रखा जायगा, तब तो संयोग में भी उस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अतः सम्बन्धत्व में 'नित्य' यह विशेषण दिया। 'ययोर्द्वयोर्मध्ये' का निष्कृष्ट अर्थ या लक्षण निम्न प्रकार से समझना चाहिए।

जिसमें रहनेवाला काल निरूपित आधेयता का सामान्य जिससे अवच्छिन्न हो, उन दोनों का जो अन्यतरत्व है, वही अयुतसिद्धत्व है, अर्थात् अयुतसिद्ध का लक्षण है। (अर्थात् उक्त सामान्य जिसमें रहे, वह तथा जिससे अवच्छिन्न रहे, वह ये दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं)॥

अनादिः सान्तः प्रागभावः, उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य।

त०—जो अनादि हो अर्थात् जिसकी उत्पत्ति न होती हो, पर सान्त हो अर्थात जिसका अन्त (विनाश) हो, वह अभाव प्रागभाव कहलाता है। यह अभाव किसी भी कार्य की उत्पत्ति (जन्म या आविर्भाव) के पहले रहता है।

सादिरनन्तः प्रध्वंसः उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य।

त०—सादि और अनन्त अर्थात् जिसकी उत्पत्ति तो हो, पर विनाश न हो, वह अभावप्रध्वंस कहलाता है। यह अभाव कार्य की उत्पत्ति के बाद, अर्थात् कार्य के ध्वंस होने पर उत्पन्न होता। है।

त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः। यथा-भूतले घटो नास्तीति ।

त०—तीनों कालों में विद्यमान रहनेवाला तथा संसर्ग से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है। जैसे 'भूतल पर घट नहीं है' यह अभाव।

न्यायबोधिनी

अत्यन्ताभावं निरूपयति—त्रैकालिकेति। (प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वे सत्यन्योन्याभावभिन्नत्वे सति अभावत्वमत्यन्ताभावस्य लक्षणम्। ध्वंसप्रागभावान्योन्याभावाकाशादीनां वारणाय यथाक्रमं विशेषणोपादानम्। वस्तुतस्तु संसर्गाभावत्वं तादात्म्यभिन्नसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्। ध्वंसप्रागभावयोश्च न संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमिति तेनैव तद्वारणे त्रैकालिकेति स्वरूपाख्यानमेवेति बोध्यम्)

न्या०— अत्यन्ताभाव का विरूपण करते हुए त्रैकालिक 'इत्यादि लिखा। 'प्रागभाव के अप्रतियोगित्व ध्वंस के अप्रतियोगित्व तथा अन्योभाव भिन्नत्व के अधिकरण में रहनेवाला अभावत्व' अत्यन्ताभाव का लक्षण है। (अर्थात् प्रागभाव और प्रध्वंसामाव का अप्रतियोगी एवं अन्योन्याभाव से भिन्न जो अभाव, वही अत्यन्ताभाव है।) ध्वंस, प्रागभाव, अन्योन्याभाव, और आकाश आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाय इस लिए लक्षण में क्रमशः चारों विशेषण दिए हैं। वस्तुतः "तादात्म्य सम्बन्ध से भिन्न जो सम्बन्ध, उससे अवच्छिन्ना जो प्रतियोगिता, तत्प्रतियोगिताक जो अभावत्व" इस तरह के संसर्गाभावत्व को हो अत्यन्ताभाव का लक्षण मान लेना चाहिए। इस प्रकार ध्वंस और प्रागभाव, इन दोनों के संसर्ग से अवच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व के न होने से ही इन दोनों में होने वाली अतिव्याप्ति का वारण हो जायगा। अतः लक्षण में रखा गया 'त्रैकालिकत्व' विशेषण केवल स्वरूपव्याख्यान के लिए ही होगा। किसी भी अतिव्याप्ति के वारण के लिए नहीं, यह समझना चाहिए।

तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः, यथाघटः पटो नेति ।

त०—तादात्म्य से अवच्छिन्ना जो प्रतियोगिता, उस प्रतियोगितावाला जो अभाव, वही अन्योन्याभाव है। जैसे-घट पट नहीं है। (अर्थात् घट का तादात्म्य घट में ही है, पट में नहीं है। तुल्यन्यायात् पट का तादात्म्य भी पट में ही है, घट में नहीं। अतः यहाँ का जो परस्पर तादात्म्याभाव है, वही अन्योन्याभाव है।) ॥

न्यायबोधिनी

अन्योन्याभावं निरूपयति—तादात्म्येति। अभावत्रयवारणाय विशेषणम्। घटाभाववान्नेति प्रतीतिविषयघटादिवारणाय विशेष्यम्।

न्या०—अन्योन्याभाव का निरूपण करते हुए 'तादात्म्य' इत्यादि मूल में लिखा। मूलोक्त लक्षण में तीनों अभावों में लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए विशेषण दल रखा गया है। तथा "घट के अभाव वाला नहीं है" इस प्रतीति का विषय जो घट आदि, उसमें अन्योन्याभाव के लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए लक्षण में विशेष्य दल का ग्रहण किया गया है।

सर्वेषां पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात्सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्।

त०—(अन्य न्याय एवं दर्शनों में प्रतिपादित) सभी पदार्थों का यथावत् वर्णित सात पदार्थों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण सात ही पदार्थ सिद्ध होते हैं।

न्यायबोधिनी

ननु सादृश्यादीनामतिरिक्तपदार्थानामनिरूपणेन न्यूनतेत्यत आह-सर्वेषामिति। प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम' इति न्यायस्यादिमसूत्र उक्तानां प्रमाणप्रमेयादीनामित्यर्थः।

तद्भिन्नत्वविशिष्टतद्गतभूयोधर्मरूपसादृश्यस्यापि घटपटादिरूपत्वेन नातिरिक्तत्वमेवमन्येषामप्यूह्यम् ।

न्या०—'यदि सात ही पदार्थों का निरूपण किया जाय, तथा सादृश्य आदि पदार्थों का निरूपण न किया जाय तो इस ग्रन्थ की न्यूनता सिद्ध होगी ।' इस संशय के निवारण के लिए मूल में 'सर्वेषां' आदि लिखा है । मूलोक्त 'पदार्थानाम्' का "प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगमः" इस न्याय दर्शन के आदिम सूत्र में वर्णित पदार्थों से अभिप्राय है ।

तद्भिन्नत्वविशिष्टतद्गतभूयोधर्म रूप सादृश्य के भी घटपटादिरूपत्व के होने से अर्थात् घट पट रूप ही होने से सात पदार्थों से अतिरिक्तत्व अर्थात् अतिरिक्त सादृश्य को मानना ठीक नहीं है । इसी प्रकार सभी पदार्थों के विषय में विचार कर लेना चाहिए ।

काणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये ।
अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायान्नम्भट्टविरचितस्तर्कसंग्रहः समाप्तः ।

त०—(इस प्रकार) कणाद और गौतम के सिद्धान्तों के विषय में बालकों की व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञान की सिद्धि के लिए विद्वान् अन्नम्भट्ट के द्वारा (यह) तर्कसंग्रह (नामक ग्रन्थ) बनाया गया है ।

॥ तर्कसंग्रह का अनुवाद समाप्त ॥

न्यायबोधनी

काणादेति । कणादस्येदं काणादम् । काणादन्यायमते इति द्वन्द्वगर्भकर्मधारयः । कणादप्रोक्तगौतमप्रोक्तमतयोरिति यावत् । काणादन्यायाभिन्नमतद्वयविषयकालसमवेताभिन्नव्युत्पत्तिसिद्धिप्रयोजकान्नम्भट्टविद्वन्निष्ठभूतकालीनकृतिविषयाभिन्नस्तर्कसंग्रहाख्यग्रन्थ इत्यन्वयबोधः ।

कृष्णावलम्बिनो गाः पुषा गोवर्धनस्तमभ्यर्चयन् ।
विपुलाभीरसभाजनजनितबुधेन्द्रस्तवाभिरचनाभिः ॥२॥ ?

इति न्यायबोधिनी समाप्ता ।

न्या०—काणाद शब्द की "कणादस्य इदम् काणादम्" (यह कणाद का है) यह व्युत्पत्ति है । "काणादन्यायमतयोः" इस पद में द्वन्द्वगर्भ कर्मधारय समास है । इस प्रकार "कणाद और गौतम के द्वारा कहे हुए जो सिद्धांत" यह उस पद का अर्थ होता है । काणाद और न्याय इन दोनों से अभिन्न जो मत (सिद्धान्त) तद्विषयिणी जो बाल में रहनेवाली अभिन्ना व्युत्पत्ति, उस व्युत्पत्ति की प्रयोजिका जो अन्नम्भट्ट विद्वान् में रहनेवाली भूतकालीना कृति, उस कृति के विषय से अभिन्न विषय, (यह) तर्कसंग्रह नामक ग्रन्थ है; यह मूलोक्त अन्तिम मङ्गलश्लोक का अन्वयबोध है ।

भगवान् श्रीकृष्ण का अवलम्बन (आश्रय ग्रहण) करने वाली गायों का पोषण करने वाले गोवर्धन (पर्वत = गोवर्धन भगवान्) हैं उन श्रीकृष्ण भगवान् की विपुल असङ्ख्य आभीरों के सम्मान से जनित (उत्पन्न होने वाली स्वतः उद्भूत होने वाली) बुधेन्द्र (इन्द्र) की स्तुति युक्त रचनाओं से अभ्यर्चना करते हुए जिस प्रकार (इन्द्र वर्षादि द्वारा उत्पन्न तृणादि से) गायों के वंश के बढ़ाने वाले (गोवर्धन) ही सिद्ध हुए वैसे ही यह गोवर्धन अर्थ भी विपुल रस से पूर्ण होने के कारण रसभाजन (रसपूर्णमात्ररुपकाव्यों) जनित (उत्पन बुधेन्द्रों श्रेष्ठ पण्डितों की स्तुति रूप रचनाओं के द्वारा उस भगवान् श्रीकृष्ण की अभ्यर्चना करते हुए श्रीकृष्ण को आश्रय करके रहने वाली स्तुति रूप गायों के कर्ता होने के कारण गोवर्धन [गो, वाणी, वर्धन = विकास कर्ता] सिद्ध हुए । अर्थात् "भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति रूप गायों [वाणियों] के बढ़ाने वाले" इस अर्थ से युक्त "गोवर्धन" यह उनका नाम सर्वथा सार्थक हुआ ।

॥ न्यायबोधिनी व्याख्या पूर्ण हुई ॥

★ ★ ★

स्वप्रकाशित छात्रोपयोगी पुस्तकें

१. साहित्य दर्पण-लोचन, विज्ञप्रिय टीकोपेतम्-(अजिल्द) ८०-००
प्रथम भाग ४०-०० द्वितीय भाग ३०-०० सम्पूर्ण सजिल्द १५०-००
२. मेघदूत (पूर्वार्द्ध)-प्रह्लाद गिरि १०-००
३. चन्द्रालोक (१-४ मयूख)-डॉ० त्रिलोकीनाथ द्विवेदी १५-००
सम्पूर्ण (शीघ्र प्रकाश्य) २५-००
४. भट्टिमहाकाव्यम् १-४ सर्गः-डॉ० चन्द्रमौलि द्विवेदी १५-००
(५-८ सर्गः) ,, ,, २५-००
५. वृहद्वकहडाचक्रम्-पं० मदन गोपाल वाजपेयी ५-००
६. दशरूपक-बहुरूपमिश्र विरचित दीपिका-डॉ० अमरनाथ पाण्डेय ३०-००
७. दशकुमार चरित-(पूर्वपीठिका)-डॉ० यमुनेश त्रिपाठी १०-००
८. कर्पूरमञ्जरी-डॉ० सुदर्शन लाल जैन २०-००
९. व्युत्पतिवाद-दीपिका (टीकोपेतम)-पं० शिवदत्त मिश्र २५-००
१०. काव्यप्रकाश-आंग्लानुवाद-डॉ० गंगा नाथ झा १५०-००
११. वैदिक साहित्य का इतिहास-डॉ० कुंवर लाल जैन १०-००
१२. विक्रमाङ्कदेवचरितम्-(प्रथम सर्गः)-श्रीप्रतापनारायण पाण्डेय ७-५०
१३. व्याकरणशास्त्रेतिहासः-लोकमणिदाहाल अजिल्द ५०-००
सजिल्द ७०-००
१४. वेदान्तसार विद्वन्मनोरञ्जनी-हिन्दी टीकोपेतम् (यंत्रस्थ)
१५. स्वप्नवासवदत्तम् व्याख्याकार-आचार्य जगदीशप्रसाद पाण्डेय
सम्पादक-पं० मदन गोपाल वाजपेयी २०-००

भारतीय विद्या प्रकाशन

पो० बॉक्स नं० ११०८ १, यू० बी० जवाहर नगर
कचौड़ी गली बँगलो रोड,
वाराणसी-१ दिल्ली-७